श्री सच्चिदानन्दाय नमः

अद्वैतानन्द
या
सच्चिदानन्द प्रकाश

भाग २

पूज्यपाद श्री सतगुरु दयाल श्रीश्री १०८ श्री स्वामी
अद्वैतानन्द जी महाराज परमहंस
के

परमोपयोगी उपदेश

प्राप्ति-स्थानः

श्री सच्चिदानन्द सतसंग प्रकाश
श्री अद्वैत आश्रम, श्री अद्वैत मार्ग, कृष्णा नगर, मथुरा

प्रकाशक :—
श्री सच्चिदानन्द सत्संग प्रकाश,
श्री अद्वैत आश्रम, श्री अद्वैत मार्ग
कृष्णानगर, मथुरा।

मुद्रक :—
श्री हेमेन्द्रकुमार, बी. एस-सी., एल-एल. बी.
साधन प्रेस, डैम्पियर नगर, मथुरा।



अनन्त श्री विभूषित श्री १००८ श्री परमहंस दयाल स्वामी

श्री अद्वैतानन्द जी महाराज

ॐ

श्रीअद्वैतानन्द

या

सच्चिदानन्द प्रकाश

भाग तीसरा (वेदान्त)

दरया ने क़तरे से कहा तू और नहीं मैं और नहीं।
मैरी मौजे हवासे हूबाब बना तू और नहीं मैं और नहीं॥

(१) एक दिन इर्शाद हुआ, कि हर एक शास्त्र के पढ़ने से पहले यह मालूम कर लेना अत्यन्त आवश्यक है, कि इस शास्त्र का विषय, प्रयोजन और सम्बन्ध क्या है, तथा इसके पढ़ने का अधिकारी कौन है, यह बातें मालूम कर लेने के बाद जो पढ़ेगा, वह बहुत ही लाभ प्राप्त करेगा, नहीं तो उलझन में पड़ने का भय है, जैसे कि अक्सर लोग वेदान्त शास्त्र को पढ़ कर लाभ प्राप्त करने की अपेक्षा उल्टे भटक जाते हैं। उदाहरण के लिये योग वशिष्ठ को लो। यह शास्त्र सत्त, चित्त, आनन्द स्वरूप और अचिन्त्य अर्थात् चिन्तन में नहीं आने वाले चैतन्य आत्मा को जतलाता है। यह तो उसका विषय है, और परमानन्द की प्राप्ति और अनात्म अभिमान से छूट जाना, यह प्रयोजन है। ब्रह्म विद्या और मोक्ष के उपाय से आत्म पद प्राप्त करना यह सम्बन्ध है। जिसको यह निश्चय हुआ है कि मैं अद्वैत ब्रह्म अनात्म देह से बंधा हुआ हूँ सो किस प्रकार से छूटूँ, वह न अति ज्ञानवान है और न अज्ञानी ही है, ऐसा विकृत आत्मा यहाँ अधिकारी है। एक मनुष्य को हमने कहते सुना कि कथा सुनने से प्रेम उत्पन्न होना लिखा है, परन्तु मैंने योग वशिष्ठ की कथा चिरकाल तक सुनी मेरे हृदय में प्रेम उत्पन्न न हुआ। अब विचार करना चाहिये, कि उसकी कामना योग वशिष्ठ की कथा से पूरी होनी थी या उसको दशम् स्कन्ध

श्रीमद्भागवत् की कथा सुननी चाहिये थी, क्योंकि वह योग वशिष्ठ की कथा सुनने का अधिकारी ही न था।

(२) एक दिन इर्शाद हुआ के श्री मद्भगवत् गीता का वाक्य तीन ज़मीरों में वर्णन किया गया है, जिसको सर्वनाम भी कहते हैं। उत्तम पुरुष, मध्यम पुरुष तथा अन्य पुरुष अर्थात् मैं तू और वह। इसी कारण इसके समझने में गलती होती है। जो इन तीन को पृथक्-पृथक् समझेगा, वही गीता को भलीभाँति समझ सकेगा। किसी जगह तो श्रीकृष्ण महाराज, पुरुषोत्तम परमात्मा को अन्य पुरुष अर्थात् वह शब्द से वर्णन करते हैं।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥ (गी०अ० १३ श्लोक १५)

अर्थात् वह परमात्मा चराचर सब प्राणियों के बाहर भीतर परिपूर्ण है। सूक्ष्म होने से जानने में नहीं आता, अति समीप और दूर भी वही है। जैसा कहा गया है—

न गौहर में है वो, न संग में-लेकिन चमकता है हर रंग में।

किसी जगह परमात्मा को (मध्यं पुरुष) तू कहा है।

अर्थ—जैसे आप आदि देव और सनातन पुरुष हैं, आप इस जगत के परम आश्रय और जानने योग्य और परम धाम हैं। हे अनन्त रूप आप से यह सब जगत व्याप्त अर्थात् परिपूर्ण है।

पिन्हाये बुलन्दी व पस्ती तुई। हमां नेस्तन्दई च हस्ती तुई॥

अर्थ—ऊपर नीचे सिवाय तेरे कुछ भी नहीं। सत्त और चित्त तू ही है और सब अनित्य है। और किसी जगह अपनी ओर संकेत करते हैं:—

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति बिना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्॥ गी० अ० १० श्लो० ३६॥

अर्थ— हे अर्जुन जो सब भूतों की उत्पत्ति का कारण है वह भी मैं ही हूँ, क्योंकि ऐसा वह चर और अचर कोई भी भूत नहीं है कि जो मेरे से रहित होवे—

मन खुदायम मन खुदायम मन खुदा।
फारग़ अज़ किब्रो कीना व अज़ रया॥

अर्थ— मैं ईश्वर हूँ मैं ईश्वर हूँ, मैं ईश्वर, अहंकार, ईर्षा और सब इच्छाओं से रहित हूँ।

दर्शन के तीन चरण हैं; मैं से जीव, ये से प्रकृत्ति और वह से ब्रह्म का अभिप्रायः है।

(३) एक रोज़ इर्शाद हुआ कि जो मनुष्य अपने कार्य में सफलता प्राप्त करना चाहता है, उसके लिये नीचे लिखी दस बातों का जान लेना आवश्यक है।

१—कारण--हेतु अथवा कर्त्ता, काम करने वाले को कहते हैं। हेतु और कर्त्ता भी उसके दूसरे नाम हैं।

२—कारण--उस सामिग्री को कहते हैं जो कार्य पूर्ण करने के लिये आवश्यक है।

३—कार्य योनि--अर्थात् काम की असल जो विगड़ कर कार्य रूप में बदल जाती है, जैसे मिट्टी का घड़ा। उसमें मिट्टी कार्य योनि है।

४—कार्य अर्थात् काम जिसके हो सकने के भाव से करने वाला प्रवृत्त होता है।

५—कार्य फल--अर्थात् काम का परिणाम जिस कारण से काम की उत्पत्ति की जाती है।

६—अनुबन्ध अर्थात् सम्बन्ध, कार्य की पूर्त्ति में जो कार्य के सम्बन्ध का अच्छा या बुरा परिणाम निकलता है, वह करने वाले से अवश्य सम्बन्ध रखता है।

७—देश अर्थात् स्थान या अर्थाधिष्ठान, लक्ष्य के केन्द्र को कहते हैं।

८—काल, ऋतु या समय। इसको परिणाम या नतीजा भी कहते हैं।

९—प्रवृत्ति--प्रारम्भः काम में सफलता प्राप्त करने के लिये करने वाले का जो प्रयत्न होता है, क्रिया, कर्म, यत्न और कार्य समारम्भ भी इसी के नाम हैं।

१०—उपाय अर्थात् युक्ति, काम की पूर्ति के लिये कारण व कर्म स्वयं ही योग्य नहीं होते इसलिये काम की पूर्णता के विषय में जो जिससे अनुकूल होता है उसे ही उपाय कहते हैं। कारण आदि भी उपाय हैं, क्योंकि इनके बिना कोई काम नहीं होता। फल और अनुबन्ध उपाय नहीं क्योंकि यह कार्य के पीछे होते हैं।

(४) एक रोज़ इर्शाद हुआ कि हमारा जो कुछ सत्सङ्ग हिन्दू, मुसलमान, ज़रुश्ट्र अर्थात् पारसी आदि महात्मा लोगों से हुआ, उससे यही मालूम हुआ कि भजन अभ्यास की युक्तियाँ सब मत मतान्तरों में मिलती जुलती हैं। थोड़ा-थोड़ा जो अन्तर मालूम होता है, प्रथम तो वह अन्तर है ही नहीं। अनुभव में जो अन्तर है उसका कारण यह है कि जैसे कोई मनुष्य किसी रास्ते से चलते समय अपनी दाईं ओर ही देखता जाय तो उसी ओर की सब बातों, हालतों व सूरतों का वह वर्णन करेगा। बाईं ओर का तो उसके लिये बाज़ार बन्द सा ही समझना चाहिये। दूसरे जिन महात्माओं को नया मत या पन्थ चलाना मन्ज़ूर होता है, वे यदि सभी पिछली बातों को वैसे का वैसा ही रहने दें तो नये मत या नये पन्थ की नींव ही न पड़े और उनकी मानता न हो तीसरे यह है कि मुल्की, माली, जिसमानी अर्थात् देश, कोष, और शारीरिक अवस्थाओं के अनुसार जब कभी कुछ परिवर्तन की ज़रूरत होती है तो उस परिवर्तन को व्यवहार में लाना भी पड़ता है, परन्तु जो अभ्यासी सच्चे भाव और पूरी युक्ति से भजन करते हैं उन पर यह हाल खुल जाता है और तनिक सा जो भेद का कारण है वह उनकी समझ में आ जाता है।

(५) एक रोज़ इर्शाद हुआ कि गङ्गा नदी तो एक ही है, परन्तु भिन्न-भिन्न स्थानों पर अनेक तीर्थ स्थापित हो गये हैं। जैसे कि हरिद्वार, सोरों, राजघाट, त्रिवेणी इत्यादि। अब हर जगह के पण्डे उसी क्षेत्र को सबसे उत्तम कहते हैं और उसी घाट की बड़ाई तथा महिमा वर्णन करते हैं। इसी तरह भिन्न-भिन्न मतमतान्तरों का हाल है। वे भी अपने-अपने मत-मतान्तरों की बड़ाई करके जिज्ञासुओं और साधकों को उसी के भेद समझाते हैं और सबसे उत्तम उसी को कहते हैं। अर्थात् अपने मत की पुष्टि करते हैं।

"नदिया एक घाट बहुतेरे। कहत कबीर नाम के फेरे।।"

परन्तु इस हद तक तो कोई हानि नहीं, किन्तु अपने पास वाले घाट की प्रशंसा करना, और साथ ही दूसरे की बुराई करना अनुचित है। इसलिये जो संप्रदाय दूसरे मतों के विषय में बुरा कहते हैं, वे भी अच्छी दृष्टि से नहीं देखे जाते, हां यदि समयानुसार या किसी जाति का निश्चय खास तरफ़ लगाने के लिये कुछ कहा जाये तो रिवाज में दाखिल है, परन्तु यह भी दोष से खाली नहीं अर्थात् हानिकारक है।

(६) एक रोज़ इर्शाद हुआ कि शास्त्र एक संस्कृत शब्द है जो शास धातु से निकला है, जिसका अर्थ शिक्षा देना है। अधिकतर शास्त्र उन्हीं ग्रन्थों को कहते हैं, जो मुख्य २ ऋषियों ने रचे हैं। छः शास्त्र जिनको षट्दर्शन भी कहते हैं वह यह हैं। (१) पूर्व मीमांसा (२) योग (३) सांख्य (४) न्याय (५) विशेषक (६) उत्तर मीमांसा या वेदान्त। इनके अतिरिक्त मिताक्षिरा, याज्ञवल्क्यस्मृति, मनुस्मृति आदि ग्रन्थों को धर्मशास्त्र कहते हैं, परन्तु इनका प्रमाण प्रायः राज दरबार में माना जाता है और ऊपर लिखे छः शास्त्रों को धर्म के सम्बन्ध में प्रामाणिक समझा जाता है। इनकी संक्षिप्त शिक्षा यह है। पहला मीमांसा, मान धातु से निकला है, जिसके अर्थ विचार के हैं और कर्म काण्ड विशेष कर सकाम करने वाले यज्ञों का इसमें वर्णन है। इसमें शब्द को नित्य माना है और इसका सिद्धान्त यह है कि ऐसा कोई काम जगत में नहीं होता जिसमें कर्म काण्ड की चेष्टा न की जाय। मीमांसा दो है, 'पूर्व' और 'उत्तर'। पूर्व मीमांसा जैमिनी ऋषिश्वर द्वारा रचित है। इसमें माना गया है कि कर्म से संसार की उत्पत्ति हुई, और कर्म रूप है तथा कर्म ही में उसका लय होगा। दूसरा उत्तरी मीमांसा श्री वेदव्यास जी द्वारा रचित है और इसमें वेदान्त के नियमों के अनुसार कर्म की वास्तविकता का होना प्रकृति से बताया है।

दूसरा योग यज्ञ धातु से निकला है जिसका अर्थ संयोग है। यह पतञ्जलि ऋषि का बनाया हुआ है। उन्होंने विद्या को मुख्य माना है। विद्या और अविद्या को अच्छी तरह से वर्णन किया है और अष्टाङ्गयोग का उत्तम रीति से वर्णन

किया है। इनका कथन है कि बिना विद्या, ज्ञान और विचार के कुछ नहीं बन सकता। क्योंकि वियोग अज्ञान से हुआ है इसलिये संयोग आवश्यक है। तीसरा सांख्य ख्य धातु से निकला है, जिसका अर्थ है गिनती या शुमार। इसके रचयिता हैं कपिल ऋषि। उन्होंने प्रकृति अर्थात् गुणों को मुख्य माना है, पुरुष और प्रकृति का भली भाँति निर्णय किया है। इनका कथन है कि बिना तत्त्वों के मेल के कुछ नहीं हो सकता, उन्होंने पुरुष को पवित्र और निर्लेप कहा है, और संसार की उत्पत्ति प्रकृति से मानी है और प्रकृति को पुरुष से जुदा उसकी छाया रूप माना है।

चौथा न्याय ई धातु से निकला है जिसके अर्थ प्राप्त होने के हैं, इसके कर्त्ता गोतम ऋषि हैं। उन्होंने परमाणु की व्याख्या की है, और सृष्टि की उत्पत्ति परमाणुओं से मानी है, इनका सिद्धान्त है कि उपादान कारण अर्थात् सामिग्री मौजूद न होने से कोई चीज़ नहीं बन सकती। उन्होंने माया, ईश्वर और जीव इन तीन तत्त्वों को अनादि सिद्ध किया है।

पाँचवां विशेषक, कणाद ऋषि का बनाया हुआ है। उन्होंने एक विशेष पदार्थ यानी आत्मा को नवां द्रव्य माना है। इसमें समय अर्थात् काल का वर्णन है। कणाद जी का सिद्धान्त है कि जब तक समय न आये, न कोई बनती है न बिगड़ती है अर्थात् समय पर ही संयोग और समय पाकर ही अर्थात् आयु पूर्ण होने पर ही वियोग होता है। संयोग का नाम जन्म और वियोग का नाम मृत्यु है।

छटवें वेदान्त शास्त्र में जिसके कर्ता व्यास जी हैं ब्रह्मविद्या का निरूपण किया है। सृष्टि की उत्पत्ति ब्रह्म से मानी है। व्यास जी का सिद्धान्त है कि बनाने वाला जब तक बनाने की इच्छा न करे कोई भी पदार्थ नहीं बन सकता। यह संसार ब्रह्म का संकल्प और इसकी इच्छा ही है। यद्यपि ये शास्त्र भिन्न २ समय में बने हैं, परन्तु हमारे विचार में यह आता है कि इन में से हर एक ने सिलसिले वार अर्थात् क्रमशः बात कही है, अर्थात् यूं समझना चाहिये कि जब हम किसी कार्य में सफलता प्राप्त करना चाहें तो आवश्यक है कि प्रथम जैमिनी जी के मतानुसार कर्म चेष्टा करें अर्थात् हाथ पांव हिलायें। फिर, न्याय के अनुसार कार्य पूर्ति के लिये सामिग्री एकत्रित करें, तीसरे वैशेषिक के

अनुसार समय का ठीक अनुमान और कदर करें, और समय की प्रतीक्षा करें। चौथे—पातञ्जलि के कथानुसार उस विषय में सोच विचार कर पूर्ण परिचय प्राप्त करें और उचित युक्ति से उस सामिग्री को मिलावें। पांचवे, सांख्य शास्त्र के अनुसार उचित युक्ति यानी व्यवहार में लायें, और हर एक वस्तु के भाग को मिलाने के लिये उसका ठीक अनुमान करें। छठा व्यास जी महाराज के सिद्धान्तानुसार दृढ़ निश्चय भी करना चाहिये।

(७) एक रोज़ इर्शाद हुआ कि वेदान्त शास्त्र का सांख्य से दो बातों में विशेष अन्तर है। पहला यह कि वेदान्त कहता है कि मोक्ष अर्थात् ज्ञान की अवस्था में यदि एक पुरुष को दूसरे से तमीज़ अर्थात् अन्तर दिखाने वाली कोई वस्तु नहीं रही तो फिर पुरुष अनन्त न हुये। दूसरा यह कि मूल प्रकृति का वास्तविक रूप माना जावे तो पुरुष ज्ञान स्वरूप होने के कारण, प्रकृति को उत्पन्न करने के लिये विवश नहीं कर सकता। वेदान्त प्रकृति को केवल भ्रम ही मानता है और जगत को स्वप्न की रचना और पुरुष का संकल्प बताता है। सच्चिदानन्द ब्रह्म में यह भ्रान्ति होना कि मैं प्रकृति हूँ यह माया है। भ्रम होना कि मैं सर्व शक्तिमान हूँ, ईश्वर भाव है जिसको सबल भी कहते हैं— यह भ्रम होना कि मैं अल्पशक्ति हूँ, जीव भाव है। संसार और उत्पत्ति के आदि और अन्त के विषय में यह कुछ नहीं कहता। किन्तु यूं कहता है कि ब्रह्माण्ड अनन्त है और उसमें अनन्त मण्डल अर्थात् गोलकें हैं, व अनन्त सूर्य मण्डल हैं, जिनमें यह गोलकें घूमते अर्थात् चक्कर लगाते हैं, और उन गोलकों में अनन्त जीव हैं। किसी में प्रलय होती है, किसी में सृष्टि होती है। एक-एक मण्डल का एक-एक ईश्वर होता है और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का एक महेश्वर जो महाप्रलय तक रहता है। प्रलय की अवस्था में जगत वासनारूप अर्थात् बीज की सूरत में इस तरह से रहता है कि जिस गहरी नींद में सोये हुये आदमी के मन में उसका भावनामय संसार रहता है। यह प्रकृति की साम्य अवस्था है जिसमें तीनों गुण समान रूप में रहते हैं। इसी को कारण अवस्था कहते हैं। सृष्टि के समय जीवों के कर्म ईश्वर के मन में फुरना करते हैं और वह योग निद्रा से उठ कर जीवों के कर्म से प्रेरित उत्पत्ति करता है जिस तरह से स्वप्न अवस्था में जीव स्वप्न सृष्टि की रचना करता है। जिस

प्रकार से स्वप्न देखने वाले के स्वरूप में अन्तर नहीं आता, उसी तरह सच्चिदानन्द ब्रह्म भी अपने आप में स्थित है। ईश्वर जब योग निद्रा से जागृत होता है तो उसे सर्वज्ञ ब्रह्म, माया के सम्बन्ध से, सूक्ष्म आकाश की भाँति दीखता है। अपने संकल्प से, सूक्ष्म प्रकृति से शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध यह पांच सूक्ष्म भूत उत्पन्न करता है। जबकि यह त्रिगुणात्मिक माया के कार्य हैं। इसलिये तीनों गुण इसमें विद्यमान होते हैं। उनके भिन्न २ सतोगुणा अंश से ज्ञान इन्द्रिय, रजोगुणांश से कर्म इन्द्रिय और तमोगुणांश से पांच महाभूत उत्पन्न होते हैं। भूतों के उस सतो गुणी अंश से चार अन्तःकरण, रजोगुणी अंश से पांच प्राण, तमोगुणी अंश से स्थूल पंचीकत भूत उत्पन्न होते हैं, और उन पञ्चीकृत भूतों से स्थूल जगत की रचना हुई है। यह शास्त्र कहता है कि कारण, सूक्ष्म और स्थूल सृष्टि, सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत की तरह भ्रम हैं। जैसे सांप कारण रूप से मन में विद्यमान रहता है, इसी कारण अन्धेरे में रस्सी को सांप मानकर उसका रूप स्थूल दीखता है। इसको प्रतिभासित सत्ता कहते हैं। वास्तव में सत्ता, ज्ञान स्वरूप आत्मा की है जिसको पारमार्थिक सत्ता कहते हैं। कुछ वेदान्त के कर्त्ता तीसरी सत्ता अर्थात् व्यवहारिक को भी मानते हैं। इनके विचार में पारमार्थिक सत्ता आत्मा की है, व्यवहारिक सत्ता जागृत जगत् की है और प्रतिभासित सत्ता स्वप्न के रूपों की है, जैसे रस्सी में सांप की। इनसे तात्पर्य जिज्ञासु को समझना ही है, और कुछ नहीं। वास्तव में दो ही सत्ता हैं और सब इन्द्रियां अन्तःकरण और प्राण जिन का वर्णन पहिले हो चुका है जीव में ही सब दीखते हैं तीनों शरीर ईश्वर और जीव दोनों के सिद्ध होते हैं।

ईश्वर के तीन शरीर यह हैं—अन्तर्यामी, हिरण्यगर्भ और विराट। जीव के विश्व, तेजस और प्राज्ञ, इन्द्रियां और अन्तःकरण सब जगह फैले हुये हैं। जहां इनके काम करने के साधन मौजूद होते हैं, वहीं प्रकट होते हैं। प्रत्येक इन्द्रिय और अन्तःकरण के पृथक् २ देवता हैं जो किसी इन्द्रिय और मन के अभिमान हैं जिनमें से एक अंश मनुष्य को मिलता है उसे अध्यात्म कहते हैं। देवताओं को अधिदेव, सूत्रात्मा, हिरण्यगर्भ और इन्द्रियों के विषय कोअधिभूत कहते हैं। जैसे श्रीमद्‌भगवद्‌गीता अध्याय ८, के पहले ४ श्लोकों में हैं।

अन्तःकरण—

अध्यात्म	अधिभूत	अधिदेव
मन	संकल्प विकल्प	चन्द्रमा
चित्त	चिन्ता	क्षेत्रज्ञ या जीव साक्षी
अहंकार	मन का विषय	रुद्र
बुद्धि	ज्ञेय	बृहस्पति

ज्ञान इन्द्रिय—

श्रोत्र	शब्द	दिशा
त्वक्	स्पर्श	वायु
चक्षु	रूप	सूर्य
रसना	रस	वरुण
घ्राण	गन्ध	अश्विनी कुमार (किसी ने पृथ्वी माना है ।)

कर्मेन्द्रिय—

वाक्य	बोलचाल	अग्नि
हाथ	पकड़ना	इन्द्र
पाद	चलना	बावन (किसी ने विष्णु लिखा है ।)
उपस्थ	आनन्द	प्रजापति
गुदा	मल त्याग	यम

पञ्चप्राण—

प्राण	श्वास का आना जाना	विष्णु
अपान	मल त्याग	गणपति
समान	रसोत्पादन	सरस्वती
उदान	मस्तक से अमृत ग्रहण कर समान वायु को देना ।	इन्द्र
व्यान	सर्वाङ्गों को रस पहुँचाना और उनमें गति उत्पन्न करना ।	आकाश या पवन

उपप्राण—

कर्कल	आहार पचाना	मन्दाग्नि
कूर्म	आँख खोलना, बन्द करना	ज्योति
नाग	कय या उद्गार लाना	शेषजी
देवदत्त	जम्भाई लाना दूध उत्पन्न करना	कामदेव
धनञ्जय	मृत्यु के पश्चात् देह फुलाना देह से पृथक न होना ।	ईश्वर

निम्नलिखित चित्र में शुद्ध ब्रह्म, या चेतन, और त्रिगुणात्मिक प्रकृति का मेल मय नाम, अवस्था शरीर आदि के दिखलाया है ।

दृष्टांत		ओम्		शुद्ध सच्चिदानन्द नित्त युक्त पूर्ण ब्रह्म सत, रज, तम, त्रिगुणात्मिक प्रकृति						
जैसे कपड़े में ४ अवस्था	जैसे खेत में ४ भेद									
बेरंग	निरबीज	शुद्ध ब्रह्म	`	ईश्वर की उपाधी	अभिमानी	जीव की उपाधि	शरीर	अवस्था	अभिमानी	कोष
चावल या फिटकरी का रंग	जिसमें बीज छुपा हो	कारण उपाधि	म	माया	ईश्वर	अविद्या	कारण	सुषुप्ति	प्राज्ञ	आनन्दमय अविद्या से मिला चैतन्य
चित्र हैं जैसे रंग से पहले होते हैं	जिसमें अंकुर जम आवे	सूक्ष्म उपाधि	उ	सूक्ष्म समष्टि	हिरण्य गर्भ अन्तर्यामी या सूत्रात्मा	सूक्ष्म व्यष्टि	सूक्ष्म	स्वप्न	तेजस	प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय १० इन्द्रिय, पांच प्राण, मन, बुद्धि कुल १७ तत्व
लाल या हरा आदि रंग देना	जिसमें फल सहित वृक्ष हो	स्थूल उपाधि	अ	स्थूल समष्टि	विराट्	स्थूल व्यष्टि	स्थूल	जागृत	विश्व	अन्नमय २५ प्रकृति का होता है

इस व्यष्टि व समष्टि के भेद को त्याग दें तो चौथी अवस्था तुर्या रहती है यही ब्रह्म है। संसार की रचना को दिखलाना अविद्या रूप कहलाता है। उसको भ्रम रूप समझ कर मिटाना उपवाद कहलाता है।

"तू शुद्ध ज्ञान स्वरूप आत्मा है" यह ही तत्त्वमसी का अर्थ है। उपनिषदों में भी आया है कि पहले आत्मा एक था उसने सोचा कि मैं बहुत हो जाऊँ और वह हो गया, मुसलमान कहते हैं "कुन फी कुन"--खुदा ने आज्ञा की दुनिया हो जाय और वह हो गई, ईसाई कहते हैं खुदा ने कहा रोशनी हो जाय और रोशनी हो गई इस प्रकार कहने या आज्ञा करने से दुनिया का हो जाना इस बात का प्रमाण है कि आज्ञा करने वाला ज्ञान स्वरूप है और उसकी आज्ञा के साथ ही उसके ज्ञान में संसार इस प्रकार प्रकट हो गया जैसे स्वप्न देखने वाले के सामने स्वप्न का चित्र आ जाता है यहाँ भी एक परमात्मा ही ठहरता है बाकी सब भ्रम मात्र है।

८—एक रोज़ इर्शाद हुआ कि भिन्न-भिन्न शास्त्रों की शाखाओं के सिद्धान्तों को देखा जाय तो माया वादी अर्थात् प्रकृति--उपासक और नास्तिक केवल मादा की सत्ता को ही मानते हैं। द्वैतवादी अर्थात् सांख्य आदि प्रकृति, जीव दोनों की सत्ता को मानते हैं। कई एक तीन पदार्थों को मानते हैं, अर्थात् ईश्वर, जीव, प्रकृति। इनमें से न्याय और वैशेषिक शास्त्र तीनों को अपने आप में स्थित मानते हैं अर्थात् यह तीनों अपनी सत्ता में किसी के आधीन अर्थात् आश्रित नहीं, किन्तु मुसलमान और ईसाई विद्वान यह मानते हैं कि प्रकृति और जीव को ईश्वर उत्पन्न करता है अर्थात् अव्यक्त को व्यक्त करता है, किन्तु प्रकृति और जीव सत्य पदार्थ हैं। वेदान्त की भाँति भ्रमात्मक नहीं हैं। वेदान्त केवल एक ही सत्ता को मानता है। यह माद्दावादियों का जड़ पदार्थ नहीं, किन्तु चैतन्य और प्रकाश मय है। माद्दावादी अर्थात् नास्तिकों का कथन है कि जो कुछ है प्रकृति ही है। मायिक वस्तुओं के सिवाय इन्द्रिय मन, विद्या और ज्ञान की शक्ति भी माया का ही एक स्वरूप है। जैसे गुड़ का ख़मीर उठा कर उसका अर्क खेंच लेने से उसमें मादकता अर्थात् नशा उत्पन्न करने का गुण आ जाता है। इसी प्रकार त्वचा, मांस, हड्डी रक्त और अंग आदि की युक्ति से पशुवत शरीरों में एक गुणज्ञान का उत्पन्न हो

जाता है जिसका नाम जीवात्मा रख लिया है और प्राकृतिक पदार्थों के मिलावट में जब विकार हो जाता है तो यह गुण नष्ट हो जाता है अर्थात् चैतन्यता जाती रहती है। लोक-लोकान्तर, पुनर्जन्म, ईश्वर, शुभ-अशुभ कर्मफल आदि कुछ नहीं, केवल समाज के मियमों का पालन आवश्यक है। यह प्राकृतिक संसार सदा से इसी प्रकार चला आ रहा है और सदा इसी प्रकार चला जायेगा। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् ने अ० १६ के ७-८ श्लोक में आसुरी प्रकृति वालों का इसी प्रकार वर्णन किया है।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च, जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो, न सत्यं तेषुविद्यते॥ अ१ १६ श्लो० ७॥
असत्यमप्रतिष्ठं ते, जगदाहुर नीश्वरम्।
अपरस्पर संभूतं, किमन्यत्काम हैतुकम्॥अ० १६ श्लो० ८॥

न्याय और वैशेषिक शास्त्रों ने इसका खण्डन किया है, ये इन तीनों पदार्थों की सत्ता को मानते हैं। प्रकति, अनन्त जीव और ईश्वर। यह कहते हैं कि प्राकृतिक वस्तुओं की काट-छाँट की जाय तो अन्त में प्रकति के ऐसे अंश तक पहुँच जायेंगे कि उससे आगे काट-छाँट नहीं हो सकेगी। इनको परमाणु कहते हैं। इन तत्व अर्थात् परमाणुओं का ज्ञान हमको इन्द्रियों के द्वारा होता है, इसलिये कुल पाँच तत्त्व हुए। क्योंकि जितनी वस्तुयें हैं इन्हीं पांच तत्त्व के परमाणुओं की भिन्न-भिन्न युक्ति और मेल का परिणाम है। मिलावट से पहिले इन वस्तुओं का अभाव है अर्थात् नहीं हैं। मेल से इनका होना प्रतीत होता है। जब इनका संयोग नहीं रहता तो कहते हैं कि नाश हो गई हैं अर्थात् परमाणुओं में मिल गई। केवल परमाणु ही अपनी सत्ता में स्थित नहीं हैं, क्योंकि इन जड़ परमाणुओं की वस्तुओं के साथ चेतन जीव भी है। चेतन का यह अर्थ है कि जीव में मन के सम्बन्ध से ज्ञान की शक्ति उत्पन्न हो जाती है जो जड़ पदार्थों में नहीं है। जीव अनन्त हैं इनका ज्ञान सीमित है। भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्म करते हैं और उनके भिन्न-भिन्न फल यहाँ और लोक लोकान्तर में भोगते हैं। इन फलों का देने वाला, प्रकृति और जीवों को मिला कर काम लेने वाला एक ईश्वर है, जो इस संसार को रचता है, उसका पालन करता है, और जब जीवों के भोग समाप्त हो जाते हैं तब

प्रलय करता है। ईश्वर के बिना न तो यह संसार उत्पन्न हो सकता है न स्थिर रह सकता है। जीव अल्पज्ञ है, ईश्वर सर्वज्ञ है; अर्थात् जीव का ज्ञान सीमित है, ईश्वर का असीम और सर्व व्यापक है।

ईश्वर-जीव और प्रकृति तीनों अनादि हैं, अर्थात् अपने-अपने अस्तित्व में किसी के अधीन नहीं। ईश्वर निर्माता है अर्थात् बनाने वाला है, उत्पादक नहीं, जीव को उचित है कि ईश्वर की शरण में रहे और भक्ति करे। इससे ईश्वर प्रसन्न होता है। जीव का कल्याण और लाभ इसी में है।

न्याय और वैशेषिक तीन अन्तिम सत्ता अर्थात् ईश्वर, जीव और प्रकृति के मानने वाले हैं जो अपने अस्तित्व में एक दूसरे के आधीन नहीं हैं। ये आरम्भवादी हैं। अर्थात् परमाणु के विशेष संयोग से वस्तुओं का उत्पन्न होना अर्थात् अव्यक्त से व्यक्त होना मानते हैं।

सांख्य और योग परिणामवादी हैं। अर्थात् कहते हैं कि प्रकृति उत्पत्ति के समय अपने रूप को परिवर्तन करके अनेक प्रकार के नवीन-नवीन रूप धारण करती है। इनमें से सांख्य ईश्वर को नहीं मानता। योग ईश्वर को मानता है। दोनों में पुरुष अनन्त माने गये हैं; पूर्व मीमांसा वैदिक कर्म का दर्शन अर्थात् शास्त्र ही यह बताता है, कि कर्म क्या वस्तु है, किस प्रकार करना चाहिये, इसका फल क्या होता है, और किस रीति से यह फल प्राप्त किया जाता है। सांख्य और योग की भाँति प्रकृति और पुरुष दोनों सत्य और अपने-अपने अस्तित्व में हैं। वेदान्त ज्ञान का दार्शनिक विज्ञान है। यह अद्वैत की शिक्षा देता है, मोक्ष का रास्ता अपने स्वरूप के ज्ञान को बताता है। यहाँ सांख्य कहता है कि परमाणु के संयोग से पर्वत वृक्ष आदि बनने के अर्थ यह हुए कि पहले ये वस्तुयें नहीं थीं, अर्थात् अव्यक्त से व्यक्त हुई। यह बात अनुमान के विरुद्ध है, यदि अव्यक्त से व्यक्त सम्भव है तो गधे के सींगों जैसी वस्तुयें जो विद्यमान हैं, उनमें से वे मनुष्य-पक्षी और अन्य वस्तुयें उत्पन्न हो जानी चाहिये। दूसरे परमाणु को अखण्ड माना है, परन्तु इससे जो वस्तुयें निर्मित्त हुई हैं उनमें प्रत्यक्ष रूप से खण्ड (भाग) दृष्टिगत होते हैं अर्थात् देखने में आते हैं। कारण में जो वस्तु नहीं वह कार्य में कैसे हो सकती है। इसलिये यह मानना चाहिये कि प्रकृति अन्तर रहित है और परिणाम

से इस तरह नये-नये रूप धारण करती है जिस प्रकार विशेष अवस्था और कारण होने से दूध का दही बन जाता है, दही कोई ऐसी वस्तु नहीं जो पहले न थी और अब उत्पन्न हो गई अर्थात् अव्यक्त से व्यक्त हुई। जीव कोई जड़ वस्तु नहीं जिसमें मन के सम्बन्ध से ज्ञान का गुण ऐसे उत्पन्न हो गया जैसे रंग के सम्बन्ध से कपड़ा रङ्गदार हो गया, ज्ञान उत्पन्न होने या नाश होने वाली वस्तु नहीं वह सदा एकरस और अपने भाव में स्थित है। हाँ ! ज्ञान में जो चीज़ें दृष्टिगत होती हैं वे आती जाती रहती हैं, इन आने जाने वाली वस्तुओं के होने या न होने का नाम ज्ञान रख लिया है, कहा जाता है कि ज्ञान उत्पन्न होता और नाश होता है, यह ठीक नहीं। ज्ञान का प्रकाशमय दीपक वैसे का वैसे प्रकाशित है, उसके प्रकाश में वस्तुयें आती जाती रहती हैं। इसलिये जीव में मन के सम्बन्ध से ज्ञान का गुण नहीं उत्पन्न होता, वास्तव में वह स्वयं प्रकाशी है, यह जीव या पुरुष निस्सन्देह अनन्त हैं। कारण कि कई तो मुक्त हो चुके हैं कई अभी तक बन्धन में हैं और प्रकृति के कौतुक देख रहे हैं। इस कारण दो सत्तायें अपने आप में स्थित होनी सिद्ध होती हैं, एक प्रकृति जो उन्नति पाकर भिन्न-भिन्न रूप ग्रहण करती है, दूसरे अनन्त पुरुष जो केवल ज्ञान स्वरूप हैं और इस कारण भोक्ता अवश्य हैं। ये अनन्त पुरुष प्रकृति के बदलते हुये रूपों के ज्ञान से प्रभावित होते हैं, परन्तु कर्ता या कर्म करने वाले नहीं हैं। प्रकृति पुरुष के भोग और मोक्ष के लिये सब कौतुक कर रही है और रूप बदल रही है, पुरुष इन कौतुकों का आनन्द भी लेता है और आनन्द प्राप्त करने के पश्चात् मुक्त भी हो जाता है। कारण कि सभी काम प्रकृति करती है। इस हेतु से ईश्वर की आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि प्रकृति और पुरुष से ही सर्व संसार का प्रबन्ध हो सकता है। जब प्रकृति-जीव और ईश्वर अपना प्रथक्-प्रथक् अस्तित्व रखते हैं एक दूसरे के आश्रित नहीं तो यह मिल कर काम किस प्रकार करते हैं, इनको कार्य में प्रवृत्त करने वाली शक्ति पृथक् होनी चाहिये। ईश्वर निर्माता, जीव कार्य कर्ता और प्रकृति तीनों पृथक्-पृथक् वस्तुयें हुईं। एक चौथी वस्तु होनी चाहिये जो इन तीनों से काम ले, वह एक चीज़ प्रकृति है, क्योंकि पुरुष ज्ञान स्वरूप होने के कारण कुछ काम नहीं कर सकता। प्रकृति ही बुद्धि, अहंकार तनमात्राओं

का रूप धारण करती है और उसी से संसार की सभी वस्तुयें उत्पन्न होती हैं, जिसका होना सिद्ध है। परिवर्तन सभी इसी में होते हैं लेकिन पुरुष भ्रम से यह समझ रहा है कि परिवर्तन मुझ में हो रहे हैं। प्रत्येक कार्य मैं कर रहा हूँ, इसी कारण दुःखी है। यही आजकल की एवोल्यूशन थ्योरी (Evoluation theory) है। वास्तव में जिसमें पुरुष अर्थात् जीवात्मा को प्रकृति का उन्नत रूप समझ रखा है, वास्तव में जड़ चेतन में पृथ्वी और आकाश का अन्तर है।

यहाँ वेदान्त इससे प्रश्न करता है कि जब प्रकृति अपने वास्तविक रूप में है, तो प्रलय के बाद जगत की रचना के वास्ते इसमें प्रथम् परिवर्तन अर्थात् महत्त या बुद्धि का रूप धारण करना किस कारण से होता है, कौन इसे रूप बदलने को विवश करता है। अपने आप अचेतन अवस्था से चैतन्यता उत्पन्न हो जाना मानने के योग्य नहीं। दूसरे जगत के प्रबन्ध के नियम में जो विशेषता और सुन्दरता पाई जाती है यह जड़ अन्धप्रकृति का कार्य कैसे हो सकता है। अदृश्य रूप में उसे चैतन्य की सहायता की आवश्यकता होती है। अनन्त पुरुषों के विषय में प्रश्न यह है। मोक्ष अवस्था में पुरुष जब समपूर्ण भ्रम को त्याग कर केवल ज्ञान स्वरूप रह जाते हैं तो एक पुरुष को दूसरे पुरुष से विभिन्नता दिखाने वाली कौन सी वस्तु है? कारण कि उस समय केवल ज्ञान स्वरूप पुरुष के सन्मुख प्रकृति के खेल भी नहीं, और वह ज्ञान के एक रस होने के कारण देश, काल, और कारणता के बन्धन से रहित हैं। यही वस्तुयें बद्ध अवस्था में एक पुरुष से दूसरे को पृथक् करती थीं, बस सत्ता एक ही ठहरी अर्थात् ज्ञान, नाम, रूप की विद्यमानता निश्चय ही अस्तित्व नहीं रखती, प्रत्युत स्वप्न अवस्था के चित्रों की तरह स्वप्न देखने वालों के स्वरूप पर निर्भर हैं। अब सम्पूर्ण ज्ञानी जीवों का ज्ञान विचार पूर्वक दृष्टि के सन्मुख एकत्र करो और देखो कि भ्रान्ति मय नाम और रूप को निकाल दिया जाय तो एक शुद्ध ज्ञान स्वरूप जीव और दूसरे शुद्ध ज्ञान स्वरूप जीव में क्या अन्तर रहेगा, कुछ भी नहीं। जैसे स्वप्न देखने वाले का स्वप्न जगत् के समस्त जीवों में से "यह मैं हूँ" का भ्रम दूर किया जावे तो सब केवल स्वप्न देखने वाले का ज्ञान रूप होकर शेष रह जायेंगे। ज्ञान के इस शुद्ध स्वरूप का नाम वेदान्त में ब्रह्म है।

वेद के तीन भाग माने गये हैं। (१) मन्त्र भाग, (२) ब्राह्मण भाग। इनमें यज्ञ आदि का वर्णन है, किन्तु मनुष्य केवल कर्म से ही मानसिक शान्ति प्राप्त नहीं कर सकते। कर्म को नाशवान समझ कर ऐसी वस्तु की खोज करते हैं जिसका नाश नहीं है। यह आत्म ज्ञान है, जो वेदों के अन्तिम अर्थात् तीसरे भाग में है, इसे उपनिषद् कहते हैं यही वेदान्त अर्थात् वेद का अन्त है। वास्तव में वेदान्त वह शास्त्र है जो ब्रह्म विद्या अथवा आत्म विद्या या ज्ञान की शिक्षा देता है। उत्तर मीमांसा में जो श्री व्यास जी की रचित है वेदान्त के सिद्धान्त वर्णन किये हैं। वेदान्त एक दर्शन है इसका विस्तार अनेक ग्रन्थों में वर्णित है। इसकी शिक्षा (एको ब्रह्म द्वितिय नास्ति) एकता का स्वरूप सम्पूर्ण संसार में व्यापक धर्म है जो प्राचीन समय से विचार शील वृत्ति वालों का उद्देश्य रहा है। मतमतान्तर के सदा दो स्वरूप होते हैं। प्रथम बहिरङ्ग जो जन साधारण के लिये है और जिसमें कर्म तथा रीतिरिवाजों पर अधिक ज़ोर दिया जाता है (२) आन्तरिक जिसमें मत के सूक्ष्म रहस्य और तत्व वस्तुओं का निर्णय होता है यह मुख्य-मुख्य अधिकारियों के लिये है। एकता का सिद्धान्त किसी मत का अन्तरिङ्ग स्वरूप है, जो सभी बड़े-बड़े मतान्तरों में कहीं प्रत्यक्ष कहीं गुप्त मिलता है। यह सत्ता जड़ अर्थात् बे जान प्रकृति नहीं वरन् ज्ञान तथा प्रकाश स्वरूप है। नेस्ति के लिहाज़ से उसका नाम अर्थात् न होने पन को सत कहा जायेगा, अतः जो नहीं है वही सत्य है। जड़ का भाव दूर करने के लिये इसको चित अर्थात् प्रकाश माना जायेगा। द्वैत का दुःख निवृत्त होने के कारण इसको आनन्द कहा जायेगा। इसलिये इसे सच्चिदानन्द कहते हैं। यह पृथक्-पृथक् गुण नहीं वरन जो वस्तु सत् है वही चित्त है और वही आनन्द है। इसी को अस्ति, भाँति, और प्रिय कहते हैं। उर्दू में हस्ति, इलम, सरूर कहते हैं। इसी एक वस्तु को भिन्न-भिन्न दृष्टि से देखते हुये सच्चिदानन्द कहा है। चित्त को सत् कहते हैं, क्योंकि चित्त की सत्ता वास्तव में है। शेष सब देखने मात्र होने के कारण मिथ्या हैं, इसी तरह चित्त और सत् दोनों एक ही बात हैं। सत् जो चित्त है वही आनन्द स्वरूप है, क्योंकि देखने मात्र में जो दुःख है, इसीलिये आत्मा सुख रूप है कारण कि एक रस अविनाशी है। इस एकता में अनेकता के दृश्य को ही माया कहते हैं। जो

ज्ञान स्वरूप अद्वैत तत्व में अनेकता के परिवर्तन शील दृश्यों के कौतुक देखने के लिये प्रकट होती है और उसी को एक प्रकार की शक्ति है जिसे कुदरत या शक्ति कहते हैं। यह माया का विषय मन बुद्धि की विवशता है जो एकता में अनेकता का विस्तार करने के लिये अवश्य मानना पड़ता है। यह सत्-असत् अर्थात् होना न होना दोनों से पृथक् माननी पड़ती है। इसी को अनिर्वचनीय कहते हैं। क्योंकि यदि सत मानो तो ब्रह्म की सत्ता की भाँति इसकी सत्ता भी तीनों कालों में एक रस रहनी चाहिये, परन्तु ज्ञान होने पर माया का नाश हो जाता है। यदि असत् कहें तो बन्ध्या पुत्र, तथा गधे के सींगों आदि के समान न माया का भान होना चाहिये, और न माया रचित जगत का, यद्यपि दोनों का भान होता है। गहरी नींद अर्थात् सुषुप्ति से मनुष्य जागता है तो कहता है कि मैं ऐसे सुख से सोया कि कुछ भी नहीं जाना यह "कुछ भी नहीं जाना" ही माया का स्वरूप है। माया को अनिर्वचनीय कहा है। इसका विवेचन अर्थात् वर्णन नहीं हो सकता। यह अनादि भी अवश्य ही माननी पड़ती है, क्योंकि शुद्ध ज्ञान अर्थात् ब्रह्म में आत्म तत्त्व जो असंग और निर्लेप है, किसी वस्तु का कारण बनने की सामिग्री ही नहीं है। माया दो प्रकार से अपना चमत्कार दिखलाती है, आत्म तत्त्व के प्रकाश को आच्छादित करती है अर्थात् ढकती जाती है, जिसको आवरण कहते हैं। और नाना प्रकार के रूप दृष्टि के सामने लाती जाती है, जिसको विशेष अर्थात् वृत्ति की चंचलता कहते हैं विभिन्न दृष्टि कोण से इसके भिन्न-भिन्न नाम रखे गये हैं क्योंकि इन्द्रजालवत् खेल है। वास्तव में तो सत्ता से रहित है, परन्तु कौतुक नाना प्रकार के दिखाती है, इसी कारण इसको माया कहते हैं। क्योंकि यह ज्ञान के प्रकाश को ढकती है।

धुमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेना वृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ अ० ३ श्लो० ३८।

इसी कारण 'अज्ञान' कहलाती है। कारण के ज्ञान अर्थात् ब्रह्म विद्या से नाश हो जाती है, इसलिये 'अविद्या' कहलाती है। इस ज्ञान स्वरूप आत्मा में यह भ्रम होना कि मैं जगत की उत्पत्ति, स्थिति और नाश करने वाला हूँ, मुझमें हर प्रकार की शक्ति है ईश्वरीय अवस्था का नाम है। सारांश यह कि

चैतन्य पुरुष माया के संग होने से शुद्ध मायोपदित चेतन कहलाता है। माया का दूसरा रूप अर्थात् अविद्या के संग होने से चैतन्य जीव भाव को प्राप्त होता है, और जीवात्मा को यह अभिमान होता है कि मैं जीव दुर्बल अर्थात् शक्ति हीन हूँ। जिस प्रकार रस्सी के ज्ञान से सांप की प्रतीति जाती रहती है अर्थात् सांप के होने की भ्रान्ति दूर हो जाती है, उसी प्रकार आत्मा के ज्ञान से जगत की प्रतीति नहीं रहती अर्थात् जगत भाव मिट जाता है जिसको माया का बध या नाश कहते हैं। अतः यद्यपि माया अनादि है तथापि अनादि शान्त है ज्ञान से शान्त हो जाती है उसका अन्त हो जाता है अर्थात् अनादि अनन्त में वह शान्त हो जाती है।

उपनिषदों में वर्णन है कि पहिले आत्मा एक थी उसने सोचा कि मैं बहुत हो जाऊँ और वह हो गई इसी को "एकोऽहं बहुस्यामि" यह वेद की श्रुति कहती है। मुसलमान कहते हैं "कुन फी कुन" कि खुदा ने आज्ञा की कि दुनियाँ हो जाये और वह हो गई। ईसाई कहते हैं, खुदा ने कहा रोशनी हो जाये रोशनी हो गई। इसी प्रकार कहने या हुकम देने से दुनियां का हो जाना इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि कहने या आज्ञा करने वाला ज्ञान स्वरूप है और आज्ञा के होते ही जगत् उसके ज्ञान में इस प्रकार प्रकट हो गया जैसे स्वप्न देखने वाले के सन्मुख स्वप्न का चित्र आ गया। इस स्थान में वास्तविक सत्ता एक ईश्वर ठहरता है। शेष सब होने न होने वाली अर्थात् देखने मात्र है। यही तात्पर्य प्रत्येक मत की नींव डालने वालों के हृदय अर्थात् विचार में था। बोद्धों के सिद्धान्त जिसको विज्ञानवाद कहते हैं अथवा आदर्शवाद भी कहते हैं। यह विज्ञानवादी अथवा आदर्शवादी हैं (आईडि-लिज़म) इस धर्म के मानने वालों को क्षणिक विज्ञानवादी कहते हैं। इसकी अन्तिम सीमा शून्यवाद है जिसमें केवल नास्ति अर्थात् शून्यता को माना गया है। सत्ता का मानना स्वीकार ही नहीं। विज्ञानवादी कहता है कि जिस जगत् को तुम सत्-असत् मानते हो वह न सत है न वास्तव में असत् है अर्थात् उसकी कोई सत्ता ही नहीं। जगत देखने मात्र है। इस संसार को वाह्य सृष्टि होने का प्रमाण हमारे पास इससे अधिक कुछ नहीं कि वह हमें इन्द्रियों द्वारा अनुभव होता है। आँखों से देखना इत्यादि, जिस वस्तु की सत्ता इस प्रकार

के ज्ञान से सिद्ध है उसको सत कहा जाता है। जो वस्तु इन्द्रियों के ज्ञान की सीमा से परे है उसके सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता। अनुमान बुद्धि द्वारा अर्थात् धुएँ को देख कर अग्नि का अनुमान करना यह बुद्धि का काम है, उपमान अर्थात् किसी देखी हुई वस्तु से समानता दिखाना कि वह ऐसी है। शब्द-प्रमाण अर्थात् सत शास्त्र तथा संत महापुरुषों का कथन, ज्ञान प्राप्ति के यह सब साधन इन्द्रियों पर ही निर्भर हैं, किन्तु जिन वस्तुओं का ज्ञान होता है वह सब बाह्य वस्तुयें हैं, या केवल अपने ही मन की अवस्थायें अर्थात् मनोवृत्तियाँ हैं। दूध पीता बच्चा प्रायः चाँद को पकड़ने के लिये हाथ पसारता है, भला चाँद इतनी दूर और इसका चारपाई पर पड़े-पड़े लपकना तथा हाथ चलना क्या अर्थ रखता है। इसका कारण यह है कि जिस वस्तु को बच्चा देख रहा है वह दूर का चांद नहीं, किन्तु वह चित्र है जो उसके नेत्रों में बना है। इसके बाद समीप या दूर की समझ बच्चे को चिरकाल में होती है, नेत्रों में वस्तु का चित्र बनता है और प्रत्येक मनुष्य के लिये जानी हुई वस्तु वही चित्र है। यह ऐसा नहीं कि कोई बाहर की वस्तु हो। इसी प्रकार समस्त इन्द्रियों के ज्ञान का अनुमान कर लेना चाहिये। यह आवश्यक है कि इन्द्रियों को प्रेरणा बाहर से हुई है, परन्तु जिस वस्तु का ज्ञान हमें होता है वह हमारे मन की दशा अर्थात् मनोवृत्तियाँ हैं कोई बाह्य वस्तु नहीं। बाहर की वस्तुओं का ज्ञान हमारे विचार की सीमा से बाहर है। हमारे ज्ञान में जो-जो वस्तुयें उदय होंगी वे हमारे मन के वस्त्र पहन कर और हमारे मन के रंग से रंगी जाकर उदय होंगी। यदि हमारे से बाहर कोई जगत है तो हो, उसका ज्ञान हमारी शक्ति से बाहर है।

अतः जिस जगत को हमने बाह्य मान रखा है वह आन्तिरिक है, जिसको हम अपने से बाहर समझते हैं वह हमारे मन के अन्दर है अर्थात् मनोवृत्तियों की रचना है। इसको विज्ञान कहते हैं। विज्ञान की धारा दो प्रकार की है। (१) प्रवृत्ति विज्ञान, तात्पर्य उन मनोदशा अर्थात मनोवृत्तियों से है जो उत्पन्न होकर नाश होती रहती हैं। जैसे मकान, मनुष्य, पशु इत्यादि का ज्ञान होना और फिर पल दो पल में उस शक्ति का जाते रहना। (२) आलय विज्ञान जिसमें 'अहं भाव' अर्थात् "मैं हूँ" का भाव स्थित है, जो

मरण पर्यन्त स्थिर रहता है। इस विज्ञान-धारा को यूँ समझो जैसे दरिया का प्रवाह हो। दरिया बेशक बहता चला जा रहा है और एक दीखता है, परन्तु जब-जब जहाँ-जहाँ दृष्टि डालो वहाँ प्रतिक्षण नया ही जल होगा और पहला जल आगे बह गया होगा। हमारे जीवन पर्यन्त यह विज्ञान धारा क्षण-क्षण परिवर्तित होती हुई चलती ही रहती है। जब मनुष्य की मृत्यु हो जाती है तो यह धारा अर्थात् आलय विज्ञान नष्ट हो जाता है। जगत्, जीव और ईश्वर कुछ वस्तु नहीं। मृत्यु के उपरान्त कुछ नहीं रहता। सर्वथा अभाव अर्थात् न होना है जिसे शून्य कहते हैं। इसमें इतनी सत्यता तो है कि जगत वाह्य नहीं। जिस जगत का हमें ज्ञान है वह हमारे मन के अन्दर है बाहर नहीं, परन्तु भूल यह है कि ज्ञान को परिवर्तनशील और नाशवान मानता है। ज्ञान नाश होने वाली वस्तु नहीं है, नाश वह वस्तु होती है जो ज्ञान-समुद्र में उभरती है। अर्थात् ज्ञान-नेत्र के सामने आती है और फिर ओझल हो जाती है ज्ञान ज्यों का त्यों रहता है। उसका प्रकाश न घटता है न बढ़ता है। विज्ञानवादी ने धोखा खाया है कि ज्ञान को उत्पन्न होने और नाश होने वाला माना है। विज्ञान धारा को प्रतिक्षण परिवर्तनशील माना जाये तो किसी मनुष्य का होना अर्थात् सत्ता स्थिर नहीं रह सकती। स्मृति की स्थिति कठिन हो जायेगी और कोई कार्य पूर्ण नहीं हो सकेगा। दूसरे कृत वाणी और अकृत आगम का दोष आरोपण होता है क्योंकि कार्य आरम्भ करने वाला विज्ञान और है सम्पूर्ण करने वाला और। तथा आदि और अन्त में सम्बन्ध स्थित रखने वाली कोई वस्तु नहीं है। मनुष्य उत्पन्न होता है, बचपन, लड़कपन, यौवन और अधेड़ हो कर वृद्ध हो जाता है। यह परिवर्तन शारीरिक अवस्था में हुआ परन्तु "मैं हूँ" का ज्ञान उत्पत्ति से लेकर अन्त तक इसी प्रकार ही चला जाता है। इसे वृद्ध अवस्था की दुर्बलता का कष्ट नहीं होता, यह मृत्यु के पश्चात् भी नहीं जा सकता। कोई सोचे कि मैं नष्ट हो गया, परन्तु यह सोचना कठिन है। हम शरीर का, इन्द्रियों का, मन का, बुद्धि का, कारण शरीर अर्थात् गूढ़ निद्रा का नाश सोच सकते हैं, परन्तु ज्ञान का नाश सोचने से नहीं सोचा जाता। अतः ज्ञान के प्रकाश को लेकर हम जिस अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचे हैं वह नाश या शून्य नहीं वरन् सत्य है। वास्तव

में यह सत्ता ही सत्य है जो तीनों कालों में एक रस स्थिर रहती है। इसको परमार्थिक सत्ता कहते हैं, और होने मिटने वाली प्रतिभासित सत्ता है। सर्व संसार ज्ञान में है और ज्ञान ने अपनी सत्ता जगत को इस प्रकार उधार दे रखी है, जिस प्रकार स्वप्न देखने वाला अपनी सत्ता स्वप्न के चित्रों को उधार देता है, परन्तु जिस प्रकार स्वप्न-दृष्टा स्वप्न के चित्रों को अपने से प्रथक मानता है। इसी प्रकार जागृत अवस्था में हम सब वस्तुओं को अपने से भिन्न समझते हैं, परन्तु वे सब हमारे ज्ञान के अन्दर है।

(९) एक रोज़ इर्शाद हुआ, कि देश, काल, क्रिया और द्रव्य के अनुसार मनुष्य की आयु होती है। जिसकी क्रिया व चेष्टा शास्त्र के अनुसार होती है उसकी आयु भी पूर्ण होती है। कलियुग में आयु की अवधि एक सौ बीस वर्ष तक की है। और मरते समय जीव को अपने कर्मों के अनुसार सुख दुख होता है। जीव की मृत्यु तीन प्रकार की है। एक मूर्ख की, दूसरी अभ्यासी की, तीसरी ज्ञानवान की। ज्ञानवान का शरीर सुख से छूटता है, उसके प्राण ब्रह्म में लीन हो जाते हैं, और वह विदेह मुक्त होता है। दूसरे अभ्यासी, यह मूर्ख भी नहीं और ज्ञानवान भी, नहीं। वह जिस इष्टदेव की धारणा करते हैं मरने के पश्चात् उसी देवता के लोक में जाते हैं, और जो ब्रह्म अभ्यासी हैं, पर वह पूर्ण दशा को नहीं पहुँचे तो भी उनका शरीर सुख से छूटता है, सुषुप्ति हो जाती है और फिर सुख भोग कर आत्म तत्व को पाता है। तीसरे, जब मूर्ख मरने लगता है तो उसको बड़ा कष्ट होता है मूर्ख यही है जिसकी अज्ञानियों की संगत है, जिसका व्यवहार शास्त्रानुसार नहीं है। जो सदा विषयों की ओर दौड़ता है, और पाप कर्म करता है, ऐसा मनुष्य जब मरने लगता है तब पदार्थों से ढकी हुई स्वार्थ बुद्धि वाले जो सम्बन्ध थे उनसे वियोग होने लगता है, मोह से गला रुक जाता है, आँखें फट जाती हैं, शरीर की शोभा बिगड़ जाती है, प्राण नाड़ियों से निकलते हैं। जिन अंगों से तादात्म्य सम्बन्ध हुआ था और पदार्थों में अति स्नेह था उनसे वियोग होने लगता है। सब पदार्थ भ्रम से उलटे भासते हैं। पृथ्वी आकाश रूप और आकाश पृथ्वी रूप भासते हैं, बड़ी विपरीत अवस्था में फँस जाता है, और चित्त की चेतनता ज्यों-ज्यों घटती जाती है त्यों-त्यों पदार्थ के ज्ञान से अन्धा

होता जाता है। जैसे सायंकाल सूर्य छिप जाने से दिशा भ्रम हो जाता है वैसे ही इसे पदार्थों का ज्ञान नहीं रहता। जब प्रिय इष्ट अर्थात् अत्यन्त प्रिय से वियोग होता है तो मूर्च्छा से जड़ की भाँति हो जाता है, शरीर अखण्डित पड़ा रहता है, और जीव ने अहंकार भाव को लेकर जो-जो कार्य किये थे वे सब एकत्रित हो जाते हैं और समय पाकर प्रकट हो जाते हैं। जैसे बोया हुआ बीज समय पाकर फल देता है वैसे ही इसको कर्म वासना सहित फल आकर प्रकट होता है।

(१०) एक रोज़ इर्शाद हुआ कि जगत् की रचना सांख्य शास्त्र में इस प्रकार वर्णन की है कि पुरुष और प्रकृति के संयोग से जगत् की उत्पत्ति हुई है। पुरुष के सम्बन्ध में यह कहा है कि यह अनन्त है, और ज्ञान स्वरूप है। प्रकृति अर्थात् माया की सत्ता वास्तव में है, परन्तु ज्ञान से खाली है, यह त्रिगुणात्मिक है। इसमें तीन गुणों के कारण क्षण-क्षण में परिवर्तन होता रहता है। मनोवृत्तियां अर्थात् मन की अवस्था बदलती रहती है। प्रकृति में कार्य-कारिणी शक्तियाँ बदलती रहती हैं। सूक्ष्म तथा स्थूल रूप बदलते रहते हैं। यह सब माया है। (तमोगुण से स्थूल सूक्ष्म शरीर मोह और निद्रा जड़ पदार्थों के रूप धारण करती है। रजोगुण से काम करने वाली शक्ति के रूप में प्रकट होती है। सतोगुण से मनोदशा अर्थात् मनो वृत्तियाँ बन जाती हैं) जिस समय यह तीनों गुण सम अवस्था में होते हैं तो उसको प्रकृति की साम्यावस्था कहते हैं। इसमें उत्पत्ति सम्भव नहीं। इसको प्रलय की अवस्था समझना चाहिये। और सुषुप्ति में मनुष्य की यही दशा होती है। प्रकृति की दूसरी अवस्था का नाम प्रधान है जिसमें एक गुण बल पाकर दूसरे दोनों गुणों को दबा लेता है। सुषुप्ति से जागृत होकर मनुष्य अनुभव करता है कि वह बेसुधी की अवस्था जो गूढ़ निद्रा में थी जाती रही। उसको इसका बोध है, परन्तु वह क्या है और उसको किस बात का बोध है यह वह नहीं जानता। यह केवल प्रकाश अर्थात् ज्ञान की अवस्था है। यह प्रकृति की दूसरी अवस्था है, इसमें सत अर्थात् ज्ञान प्रधान है, इसको बुद्धि या महत्व कहते हैं, परन्तु यह बुद्धि अहंकार से रहित है। केवल ज्ञान अवस्था है। इस अवस्था के पश्चात् उसमें अहंकार की भावना उत्पन्न होती है, अर्थात् एक, मैं ज्ञान स्वरूप ज्ञाता

हूँ, और दूसरा संसार-द्वय जो नाना रूपों में अपने से पृथक् तनमात्रा द्वारा अर्थात् इन्द्रियों द्वारा मालूम होता है। अहंकार मूल प्रकृति का कार्य है, इसलिये इसमें भी तीन गुण विद्यमान रहते हैं। यह अहंकार सतोगुण के कारण मन का रूप धारण करता है, और रजोगुण के कारण ज्ञान इन्द्रिय और कर्म इन्द्रिय का रूप धारण करता है, और तमोगुण के कारण तन्मात्रा अर्थात् पञ्चमहाभूत उत्पन्न करता है, जिनको सामग्री समझना चाहिये, इनसे जड़ वस्तुयें और शरीर बनते हैं। कर्म इन्द्रियाँ इस सामग्री में कार्य कर्त्ता और ज्ञान इन्द्रियाँ उनके तत्त्व अर्थात् असर को खेंच कर मन के पास पहुँचाने वाली कलें, साधन अर्थात् शक्तियाँ हैं। मन अन्तःकरण की एक अवस्था अर्थात् यंत्र है, जिसका काम संकल्प विकल्प है। विचार के पश्चात् विषय को अहङ्कार के सन्मुख प्रस्तुत करता है। अहङ्कार बुद्धि के सामने और बुद्धि निश्चय करके पुरुष के सन्मुख प्रस्तुत करती है। मूल प्रकृति, बुद्धि, अहङ्कार, मन, पाँच ज्ञान-इन्द्रिय अर्थात् कान, त्वचा, आँख, जिह्वा, नाक और पाँच कर्म इन्द्रियाँ अर्थात् वाणी, हाथ, पाँव' उपस्थ, गुदा और पाँच तन्मात्रा, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और पाँच महाभूत अर्थात् आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, यह सब २४ तत्त्व हुये और एक ज्ञान स्वरूप पुरुष मिल कर सांख्य के २५ तत्त्व हुये। इनमें ज्ञान स्वरूप पुरुष तो अकर्ता है, न कार्य है न कारण, हाँ भोगता अर्थात् इन तमाशों का आनन्द लेने वाला है मगर कर्ता नहीं है। मूल प्रकृति केवल कारण है बुद्धि और अहंकार कारण भी है और कार्य भी है। ज्ञान इन्द्रिय, कर्म इन्द्रिय और तन्मात्रा केवल कार्य ही हैं। पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनों की रचना का यही नियम है।

(११) एक दिन इस सेवक ने प्रार्थना की कि श्री महाराज जी ब्रह्मविद्या अर्थात् ईश्वरीय ज्ञान क्या है? श्री महाराज जी ने फरमाया कि जिस ज्ञान से ब्रह्म को जाने, वास्तव में निज स्वरूप को जानने की जिज्ञासा का नाम ही ब्रह्म विद्या है। सांख्य शास्त्र स्वामी कपिलदेवजी का रचित है। जिनके विषय में श्रीकृष्ण भगवान् ने श्रीमद्भगवद्गीता के दसवें अध्याय के २६ वें श्लोक में फरमामा है कि सिद्धों में कपिल मुनि मैं हूँ। उस शास्त्र में मनुष्य के निज स्वरूप के जानने के विषय में इस प्रकार लिखा हुआ है कि मनुष्य की स्थिति

दो प्रकार की है, अर्थात् क्षर, नाशवान और अक्षर, नाश रहित। इसको श्रीकृष्ण भगवान ने श्री गीताजी के तेरहवें अध्याय में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के नाम से अर्जुन को समझाया है। क्षेत्र शरीर को कहते हैं और क्षेत्रज्ञ आत्मा अर्थात् शरीर रूपी क्षेत्र में रहने वाला और श्रीगीता जी के १५ वें अध्याय के १६ वें मन्त्र में फरमाया है कि संसार में दो प्रकार की सत्ता हैं। (१) नाशवान् (२) नाश रहित। संसार की दीखने वाली सम्पूर्ण वस्तुयें, जो इन्द्रियों तथा बुद्धि द्वारा मालूम होती हैं, और परिवर्तित होती रहती हैं, वह सब क्षर, स्थूल तथा नाशवान् हैं। जो सत्ता परिवर्तनशील और नाशवान नहीं कही जा सकती, जिसकी वास्तविकता केवल अनुभव अवस्था में जानी जाती है, वह नित्य, सनातन तथा अक्षर पुरुष, सूक्ष्म नाश रहित है। फिर १७ वें श्लोक में श्रीकृष्ण भगवान् ने फरमाया कि जो पवित्र आत्मतत्व इन दोनों अर्थात् क्षर व अक्षर से उच्चतर है उसे महान सत्ता अर्थात् पुरुषोत्तम भी कहते हैं। वह सत्ता तीन गुण अर्थात् सत, रज, तम में मिश्रित होकर आश्रय देती है। वह सत्ता अर्थात् अक्षर पुरुष नाश रहित है, इसी क्षर और अक्षर पुरुष को वेदान्त में तीन भागों में अर्थात् तीन कोष प्रतिकोष में क्रम में से (स्थूल सूक्ष्म और कारण) कह कर कथन किया है। अर्थात् स्थूल और सूक्ष्म को क्षर पुरुष और कारण को अक्षर पुरुष से मिलाया है, और पुरुषोत्तम को इन दोनों से श्रेष्ठतर माना है। इससे यह समझना चाहिये कि मनुष्य का चैतन्य उसके शरीर में कई दशाओं में काम कर सकता है। महात्माओं ने इन अवस्थाओं को सात शरीरों में बांटा है। कुछ ऐसी अवस्थायें हैं कि जिनमें साधारण मनुष्य का चैतन्य काम करता है। शेष ऐसी हैं कि उन तक उन्नति करके पहुँचना, प्रत्येक मनुष्य के लिये सम्भव है और वह सातों अवस्थायें यह हैं। शरीर सात हैं, एक स्थूल, दूसरा लिंग, तीसरा प्राण, चौथा काम, पाँचवा मनुष्य अर्थात् अहङ्कार, छटा बुद्धि, सातवां आत्मा। इन सातों में पहिले चार क्षर पुरुष कहलाते हैं, और पिछले तीन अक्षर पुरुष। क्षर के अर्थ नाश होने वाले हैं और अक्षर के अर्थ न नाश होने वाले। यह पहिले चार क्षर पुरुष इसी कारण कहलाते हैं कि मरने के पश्चात् स्थिर नहीं रहते हैं, और दूसरे शरीरों में जाकर पूर्णता को प्राप्त करते हैं। वास्तव में यही मनुष्य अक्षर पुरुष है।

(१) स्थूल शरीरः—यह साधारण शरीर है जिसको सब मनुष्य देखते और जानते हैं। हाथ, पैर, आँख, नाक, कान, हड्डी, खाल, नाखून इत्यादि तथा बहुत सी वस्तुएँ इस शरीर में सबको दिखाई देती और दे सकती हैं। भूख, प्यास और भी ऐसी इच्छायें जो मनुष्य में उत्पन्न होती हैं, वे सब इसी शरीर से पूर्ण होती हैं। इसके समझाने के लिये अधिक कहने की आवश्यकता नहीं, परन्तु यह मालूम होना चाहिये कि कुल चौबीस तत्व जिनसे मानव शरीर बना है, सांख्य दर्शन ने बहुत खोज के पश्चात् प्रमाणित किये हैं। पच्चीसवीं वास्तविक सत्ता अर्थात् पुरुषोत्तम है, जिससे शरीर की उत्पत्ति हुई। इन चौबीस तत्वों के मेल से राग-द्वेष, सुख-दुख, जीवन-मरण और उत्पत्ति, सातों अवस्थायें उत्पन्न होती हैं और चौबीस तत्वों की उत्पत्ति इस प्रकार है—रजोगुणी अर्थात् तेजस अहंकार से पाँच ज्ञान इन्द्रियाँ, कान, त्वचा, आँख जिह्वा और नाक, पाँच कर्म इन्द्रियाँ वाणी, हाथ, पाँव, लिंग और गुदा, यह दस इन्द्रियां हैं। तमोगुण अंश से पाँच महाभूतः आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी। तत्व चार ही हैं, और पाँचवा आकाश है, जो सब में व्यापक है। और पाँच तन मात्राः—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध। सतोगुण अंश से मनुष्य होता है, अर्थात् मन, बुद्धि, अहंकार होते हैं। प्रकृति चौबीसवां और पुरुष पच्चीसवाँ, जो सबसे न्यारा और नाश रहित है।

(२) लिङ्ग अर्थात् सूक्ष्म शरीर। स्थूल शरीर के अन्तर्गत एक दूसरा शरीर होता है, जो साधारण नेत्रों से नहीं दीखता। इसी कारण प्रत्येक मनुष्य इसे नहीं देखता, पर मनुष्य में एक शक्ति ऐसी है जिसके प्रकट होने पर यह लिङ्ग शरीर देखने में आजाता है, इस शक्ति का नाम दिव्य दृष्टि है। यह कभी अपने आप भी पैदा हो जाती है। कोई-कोई मनुष्य अपनी इच्छा के विरुद्ध भी ऐसे रूप देखते हैं, जो स्थूल लोक के नहीं होते, परन्तु योग अभ्यास के द्वारा यह शक्ति उत्पन्न भी की जा सकती है। अब इस लिङ्ग शरीर के विषय में यह समझना चाहिये, कि यह स्थूल शरीर का पूरा नमूना है। यह स्थूल शरीर इसी के सांचे पर ढला है। यह भी कहा जा सकता है कि लिङ्ग शरीर स्थूल शरीर का पूरा चित्र है। मनुष्य के शरीर में जो शक्तियाँ हैं, उन सबके रहने का स्थान वास्तव में, यह लिङ्ग शरीर ही है। पांचो ज्ञानेन्द्रियाँ, तन्मात्रा,

और पांचो कर्म इन्द्रियाँ और जितनी शक्तियाँ मनुष्य की हैं, वह सभी इस लिंङ्ग शरीर में रहती हैं। यह लिंग शरीर ऐसी सामग्री का बना हुआ है जो स्थूल शरीर की सामग्री से अधिक शुद्ध और सूक्ष्म है। प्राण और ज्ञान इसी शरीर में रहते हैं।

(३) प्राण—प्राण का एक अनन्त समुद्र इस ब्रह्माण्ड में भरा हुआ है अर्थात् मनुष्य, पशु, कीड़े, पतंगे, धातु, वनस्पति, चाँद, सूर्य, पृथ्वी तात्पर्य कि जो कुछ भी है वह सब इस प्राण के समुद्र में डूबा हुआ है, इसी से उसका जीवन है। प्रत्येक वस्तु अपनी आवश्यकतानुसार इस प्राण समुद्र से कुछ अंश खींच लेती है, औरं इसी से उसका विशेष रूप स्थिर रहता है, और उसके जीवन का कार्य चलता है, अर्थात् जो कुछ इस त्रिलोकी में स्थित है वह सब प्राण के आधीन है। माता की न्याई अपने पुत्रों की रक्षा करता है, हमारे लिये बुद्धि और लक्ष्मी का दाता है। लक्ष्मी से तात्पर्य शारीरिक सौन्दर्य और धन इत्यादि है। वह शारीरिक अवस्था जो धन आदि को आकर्षित करती है, वह भी प्राण का एक विशेष रूप है। यह प्राण, अग्नि, सूर्य, बादल, इन्द्र, वायु, पृथ्वी, सत्य और अमृत है। तात्पर्य यह है कि कोई वस्तु ऐसी नहीं है कि जिसके स्थिर रहने के लिये प्राण का अंश आवश्यक न हो। अपनी-अपनी आवश्यकता के अनुसार प्रत्येक वस्तु प्राण का एक अंश खींच कर, स्थिर रहती है।

(४) काम—काम का शब्दार्थ कामना है। वासना भी इसी को कहते हैं। यह मनुष्य का वह अंश है, जिसके कारण सम्पूर्ण संसारिक वस्तुओं की इच्छायें, उसके मन में उत्पन्न होती है। इसी के प्रकट होने से मनुष्य समस्त संसारिक रस जो इन्द्रियों द्वारा जाने जाते हैं, भोगना चाहता है और ईर्षा, द्वेष, क्रोध जो इन इच्छाओं के पूर्ण न होने से उत्पन्न होते हैं, वह भी इसी काम तत्व के कारण प्रकट होते हैं। इसी काम तत्व को विदेशी महापुरुष बहकाने वाला अधम मन कहते हैं। यह वास्तविक पशु है, यह काम तत्त्व प्राण तत्त्व के साथ मिल कर मनुष्य के शरीर में पशुवत् अधम मन होता है जिसकी शक्ति इसी में अर्थात् मनुष्य शरीर में रहती है। इन्द्रियाँ इसी के द्वारा काम करती हैं। जब मनुष्य में पशुवत् स्नेह का वेग होता है या क्रोध होता

है तो उसका चैतन्य इसी काम के स्थान पर होता है। श्री मद्भगवद्गीता में भी काम की सत्ता मानी है। तीसरे अध्याय के ३६ वें श्लोक में अर्जुन ने प्रश्न किया है कि यह पुरुष किसकी प्रेरणा से पाप करता है क्योंकि यह अपने आप तो पाप नहीं करना चाहता है, परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि कोई उसको ज़बरदस्ती पाप में लगा देता है। इसके उत्तर में ३७ वें श्लोक में श्रीभगवान् जी ने फरमाया है कि यह काम और यह क्रोध रजोगुण से उत्पन्न होता है। यह काम ही क्रोध है। यही महाशन अर्थात् बहुत खाने वाला (अग्नि के सदृश्य भोगों से न तृप्त होने वाला) बड़ा पापी है। इस संसार में इसको ही तू वैरी जान। ज्ञानियों के नित्य वैरी इस काम ने ज्ञान को ढक रखा है, हे अर्जुन यह काम रूप ही ऐसी आग है जो कठिनता से ठंडी होती है, यह काम तत्व काम रूप ही कहलाता है। कामनाओं की आग ऐसी प्रबल है, जो इसके सामने आये वही भड़क उठता है। यह अग्नि कामनाओं के पूर्ण होने से बढ़ती है। किसी समय शान्त नहीं होती। सांख्य योग दर्शन में इस काम तत्व को इन्द्रिय के नाम से वर्णन किया है जो रजोगुणी तेजस अहंकार से उत्पन्न होता है। ज्ञान इन्द्रिय तत्व से ही उसकी उत्पत्ति है। इसी लिये विशेष ज्ञान उत्पन्न करने वाली इन्द्रियाँ ज्ञान इन्द्रियां कहलाती हैं। ये ज्ञान इन्द्रियां तन्मात्रा में अपना स्थान बना कर मनुष्य का सूक्ष्म शरीर बनाती हैं और इस सूक्ष्म शरीर की शक्ति से स्वरूप या लिङ्ग शरीर और फिर इसी के तद्रूप अर्थात् नमूने पर मनुष्य का स्थूल शरीर बनता है। जब बाहर की किसी वस्तु का किसी इन्द्रिय के साथ संयोग होता है तो उस इन्द्रिय की नाड़ियों में चेष्टा उत्पन्न होती है। यह चेष्टा स्वरूप में पहुँचती है और स्वरूप से सूक्ष्म शरीर में, वहाँ इन्द्रिय तत्व द्वारा मन को उसका ज्ञान होता है। वास्तव में काम तत्व और इन्द्रिय तत्व एक ही हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में लिखा है इन्द्रिय का उसके विषय में राग और द्वेष पूर्ण रूप से स्थित है, अर्थात् घनिष्ट सम्बन्ध है। उनके वश में न आना चाहिये, वह इसके लिये बटमार (लुटने वाली) इन्द्रिय का काम ज्ञान और कर्म है, परन्तु यह इन्द्रियां ही विषयों की ओर स्वभाव से ही खिंचती हैं जैसे लोहा चुम्बक की ओर स्वभाव से ही खिंचता है। इस सम्बन्ध से भी द्वेष उत्पन्न हो जाता है।

यही राग और द्वेष, काम, क्रोध हैं। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि काम तत्व इन्द्रियों में स्वभाविक ही रहता है। जब कभी कोई काम इन्द्रियों का होता है तो यह तत्व प्रत्यक्ष होकर इन्द्रियों का विषय से सम्बन्ध बढ़ाता जाता है। जब यह काम तत्व मन के साथ मिलता है तो काम मनुष्य के नाम से पुकारा जाता है। उस समय विषयों का राग और द्वेष मन में ही स्थान बना लेता है। गीता के दूसरे अध्याय के ६२-६३ श्लोक में लिखा है कि विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष को उन विषयों में आसक्ति होती है और आसक्ति से उन विषयों की कामना उत्पन्न हो जाती है, कामना में विघ्न पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोध से मोह उत्पन्न होता है, मोह से स्मरण शक्ति भ्रमित हो जाती है। और स्मृति के भ्रमित होने से बुद्धि का नाश हो जाता है, बुद्धि के नाश होने से यह पुरुष अपने श्रेय साधन से गिर जाता है। जब इन्द्रियाँ विषय से मिलती हैं तो काम उत्पन्न हो जाता है, अर्थात् उसके मिलने की इच्छा उत्पन्न हो जाती है। यह इच्छा इन्द्रियों में ही रहती है और पहिले से विद्यमान है। संग से प्रकट हो गई। जब किसी वस्तु के मिलने की इच्छा हो गई, वह न मिली तो क्रोध उत्पन्न हुआ, यह राग और द्वेष ही है। मरने के पश्चात् मनुष्य जब इस स्थूल शरीर और स्वरूप को छोड़ देता है तो उसका शरीर इस काम तत्व का होता है, यह काम रूप न्यून अधिक दिनों तक बना रहता है। यदि जीवन काल में काम, क्रोध, रागद्वेष और उनके नाना प्रकार के रूप पशुवत स्नेह अर्थात् मोह और क्रोध, ईर्षा, लोभ, लालच और इसी प्रकार के कई वासना रूपी दृश्य अर्थात् प्रकाश भटकते रहे हैं और इसीलिये बहुत बलशाली हो गये हैं। तो यह काम बहुत दिनों तक जीवित रहेगा और उस पुरुष को उतने ही दिन कष्ट रहेगा। यदि जीवन काल में वासनाओं का दमन कर लिया हो या स्वार्थ का त्याग करके उनसे काम लिया हो तो उन कामनाओं से कष्ट न होगा और यह काम रूप शीघ्र टूट जायेगा। ५ अध्याय के २३ श्लोक श्रीमद्भगवद्गीता में श्री भगवान् ने फरमाया है कि जो मरने से पहिले ही काम-क्रोध के वेग को सहन कर लेता है वही योगी है, वही सुखी है। जिन काम रूपों में संसारिक लगाव अधिक होता है, वह मृत्यु के पश्चात् प्रायः यहाँ धक्के खाते हैं और भूत प्रेत बन कर मलीन वासनाओं वाले मनुष्यों

के सिर पर चढ़ आते हैं, जिससे उन्हें भी बहुत कष्ट होता है। यह काम रूप प्रायः अशुद्ध स्थानों में पाया जाता है, मादक स्थानों में अर्थात् जिस स्थान में मदिरा आदि का पान किया जाता है, ऐसे ही और स्थानों में जहाँ मनुष्य की पापमय भाव से कामनाओं को पूर्ति की सामिग्री उपस्थित होतो है। ऐसे स्थानों में उसको स्वभाविक आकर्षण होता है। बहुत से अशुद्ध भाव के स्त्री पुरुष इन्हीं काम रूपों का पूजन करते हैं, जब यह प्रेत उनके सिर आता है तो वे सिर हिलाते हैं और बलि भेंट के नाम से खा पी जाते हैं। ऐसे लोगों से बचना ही अच्छा है। यह अशुद्ध काम रूप प्रायः निर्बल और वैसे ही स्वभाव वाले स्त्री पुरुषों के सिर पर चढ़ आते हैं, और उनको बहुत ही सताते हैं। यह काम रूप इस बुरी अवस्था में बहुत समय तक रहता है, जिससे आगे का मार्ग खोटा होता है, और पापों की गठरी बोझल हो जाती है। किसी समय ऐसा होता है कि ऊपर के तीनों तत्व इसमें निकल कर अपने अगले मार्ग पर जाते हैं। और काम रूप निर्जीव सा वायु में काम लोक में ऐसा ही उड़ा फिरता है; जैसे रुई के समान हल्की वस्तु।

इस शरीर में कुछ थोड़ा-सा ज्ञान होता है, जो उसके साथ मन के सम्बन्ध का परिणाम होता है। वह मन तो अब निकल गया, परन्तु उसका कुछ संस्कार इस शरीर में शेष रह जाता है। जैसे किसी कपड़े में से सुगन्धित वस्तु निकाल लेने पर भी वह वस्त्र सुगन्धित रह जाता है। यह शरीर यदि इस संसार की अपवित्र कामनाओं और अपवित्र मनुष्यों के सम्बन्ध से सहायता पावे तो बहुत दिनों तक स्थिर रह सकता है। वह इस संसार को बहुत कष्ट पहुँचा सकता है। अधिकतर अपवित्र प्रेत के रूप में यह ही प्रकट होता है। उसको प्रायः यह शक्ति होती है, कि इधर उधर के लोगों के मनो भाव पकड़ कर उनके द्वारा लोगों को बतलायें और यह धोखा दे कि उन लोगों के कोई पुराने सम्बन्धी भूत हो गये हैं। जहाँ शुद्ध विचार नहीं है, वहीं उनका स्थान होता है। इस काम रूप में रह कर जीवात्मा को बड़े-बड़े अनुभव होते हैं। यह एक विशेष जीवन है, एक बड़ा प्रबल तत्व है।

मनो भावनायें और उनका प्रभाव

इस संसार में जीवात्मा का कार्य तीन रूपों में पाया जाता है। प्रथम रूप

कामना और वासना, दूसरा मनोरंजन और भावना, तथा तीसरा कर्म का है। वासना से भाव उत्पन्न होता है, और जब संकल्प बलवान हो जाता है, तो कर्म इन्द्रियों से कर्म किया जाता है। जैसा कि उपनिषदों में वर्णन है कि मनुष्य वासनाओं का ही पुतला है। जैसी उसकी वासना है, वैसा ही उसका भाव है, और अपने भावानुसार वह कर्म करता है, जैसा कर्म करता है वैसा ही उसको फल प्राप्त होता है। इस अवसर पर जीवात्मा की मध्य अवस्था अर्थात् भाव अथवा संकल्प या मनोरंजन और उनके प्रभाव पर भी विचार करना है। इसलिये इस परस्पर सम्बन्ध को जो इन दोनों शक्लों में है, भूल न जानना चाहिये। भाव एक चेष्टा का नाम है, जो मनुष्य के उस सूक्ष्म शरीर में जिसको मानसिक शरीर कहते हैं, जिसका सम्बन्ध अन्तर और बाहर हर स्थान पर रहने वाले सूक्ष्म तत्वों से है, होती है। कुछ महापुरुषों ने वर्णन किया है, कि प्रकाश एक चेष्टा अर्थात् हरकत है, जो आंख पर प्रभाव करके रूप का ज्ञान कराती है। यह चेष्टा सूक्ष्म तत्व में होती है। वायु में जो स्फुरणा होती है, और हमारे कानों पर प्रभाव डालती है, उसको हम शब्द के नाम से पुकारते हैं। एक और चेष्टा जो हमारे सारे शरीर पर प्रभाव डालती है, उसको गर्मी कहते हैं। इसी प्रकार इस प्रकृति की चेष्टा, जो मनुष्य के मस्तिष्क पर, जो स्वयं एक आला अथवा यंत्र है, कान, आंख, नाक इत्यादि के समान ही, प्रभाव डालती है, उस चेष्टा का नाम भाव अर्थात् ख़याल है। जब भाव एक चेष्टा है तो यह बात भली प्रकार समझ में आ सकती है कि भाव चाहे किसी प्रकार और किसी शक्ति का हो वह ख़याल करने वाले व्यक्ति तक ही सीमित नहीं रहता। वही मनुष्य उस भाव के अनुसार कार्य नहीं करता है वरन् बाहर वाले सूक्ष्म तत्व में उसी प्रकार की चेष्टा उत्पन्न करके दूसरे व्यक्तियों के मस्तिष्क तक पहुँच कर भी उसी प्रकार के भाव उत्पन्न करता है। इस भाव का अस्तित्व उसकी प्रबलता और शुद्धता पर निर्भर है। जितना प्रबल और पवित्र भाव होता है उतना ही उसका प्रभाव अधिक और चिरस्थायी होता है। यही कारण है, जैसा के हम देखते हैं कि बहुत से मनुष्य बिना सोचे समझे किसी काम के पीछे लग जाते हैं। कारण कि दूसरे व्यक्ति के भाव से प्रेरित होकर उनको इस कार्य के करने का भाव

उत्पन्न हो जाता है। इस बात के समझाने के लिये, भाव की चेष्टा जहां पर उत्पन्न होती है वहीं समाप्त नहीं हो जाती, परन्तु बाहर वाले सूक्ष्म तत्व में जहां तक उसका विस्तार है, उसी प्रकार की चेष्टा उत्पन्न करती हैं। यहां एक उदाहरण पर्याप्त है। जैसे एक बड़े भारी तालाब में किनारे पर या बीच में एक कंकण फैंका जाये जो उस स्थान पर पानी में अधिक हिलोर अर्थात् हरकत उत्पन्न करदे तो देखने वाला इस हलचल को सारे पानी में फैलता हुआ देखता है कि जो हलचल क्षणों में दूसरे किनारे तक पहुँच गई थी फिर लौट कर उसी स्थान पर आ जाती है इसी प्रकार कुछ समय तक उस पानी में हलचल रहती है और अन्त में अदृश्य अर्थात् बंद हो जाती है। बिलकुल यही दशा भाव की है।

द्वितीय उदाहरण—आवाज़ जो वायु में गति है, जिस समय उठती है वहीं पर नहीं रह जाती, वरन् जहां तक हवा हमारे कान उसको सुन सकें फैल जाती है तोप की ध्वनि चारों ओर बहुत दूर तक सुनाई देती है और कई बार दो-दो तीन-तीन बार भी सुनाई देती है, जिस प्रकार पानी की लहरें लौटती हैं यह हलचल अर्थात् हरकत भी लौट जाती है। छान्दोग्य उपनिषद में लिखा है कि मनुष्य भावना का बना हुआ है। जैसी भावना मनुष्य इस संसार में करता है वैसे ही यहां से चलने अर्थात् इस शरीर के छूट जाने के पश्चात् हो जाता है। इससे सिद्ध है कि हमारे वर्तमान जीवन में काम करने की शक्ति और चरित्र अर्थात् चालचलन हमारे पूर्व जन्मों की भावनाओं का परिणाम है। हमारे वर्तमान समय के भाव अगले जन्म के चाल चलन और कार्य करने की शक्ति को उत्पन्न करेंगे अर्थात् जैसी मनुष्य भावना करता रहता है वैसा ही बन जायेगा। विचार या ख़याल अपने स्वभाव के अनुसार अच्छा या बुरा भाव, दुख या सुख उत्पन्न करने वाला राग या द्वेष, सच अथवा झूठ, उदारता व कृपणता, न्याय, अन्याय आदि का होता है। कार्य का प्रगट होना मनुष्य के भाव पर निर्भर है। मन की भावना से सम्पूर्ण वस्तुयें देखने में आती हैं। जबकि मनोभावना ऐसी महान शक्ति है तो उसको उत्पन्न करना, पालन करना, स्थिर रखना, हर एक बुद्धिमान मनुष्य को उचित है। इस शक्ति के उत्पन्न किये बिना कोई कार्य लोक तथा परलोक का पूर्णता को

प्राप्त नहीं हो सकता, मनुष्य की कोई कामना बिना भावना में परिवर्तन हुये पूर्ण नहीं हो सकती। इसलिये भावना की शक्ति को उत्पन्न करके उसका उचित उपयोग हमारे भाव, कामना और दिली उभार अथवा निश्चित संकल्पों के प्राप्त करने में उचित और आवश्यक है। आजकल प्रत्यक्ष अर्थात् वर्तमान काल में खोज तथा छानबीन करने की उमंग व कामना अधिकतर देखी जाती है, परन्तु पवित्र भाव उत्पन्न करने और उसको सुरक्षित रखने का यत्न बहुत कम है। यही कारण प्रतीत होता है कि पूर्ण रूप से इच्छा के अनुसार परिणाम प्राप्त नहीं होता। इसलिये इस महान शक्ति को उत्पन्न करने का उपदेश अवतारों और प्रत्येक सम्प्रदाय के पथ परिदर्शकों अर्थात् मार्ग दर्शाने वाले--शास्त्र और वाणी द्वारा करते आये हैं। उनकी वर्णन की हुई युक्तियों के अनुसार आचरण करने से उसको प्राप्त करके उसके उचित यथार्थ उपयोग में पूर्ण रूप से एक चित्त होकर लग जावें तो वह जैसा करना चाहें सम्भव है नहीं तो असफलता की ध्वनि चारों ओर से सुनाई देती रहेगी। "आवागवन जिसको पुनर्जन्म भी कहते हैं" इसको भी इस अवसर पर समझ लो, इस पर आजकल बहुत से मतभेद हैं। पश्चिम के बहुत से विद्वान् इसको मूर्खों का आडम्बर अर्थात् ढकोसला बताते हैं। अरब के कई एक विद्वान् भी इसको एक कल्पित अर्थात् निर्मूल कहानी समझते हैं, परन्तु यह सिद्धान्त हिन्दू धर्म का एक विशाल स्तम्भ है और हिन्दू धर्म का सम्पूर्ण रहस्य इसी पर निर्भर है, जगत के बड़े-बड़े मत मतान्तरों वाले इसको एक समय मानते थे, परन्तु जो रहस्य इसके विशेष अधिकारी जिज्ञासुओं के लिये थे वह साधारण जनता को नहीं बताये जाते थे, बहुत से महापुरुषों के कथन से इसकी पुष्टि होती है। जैसे कि मौलाना रूम साहिब अपनी कविता में कथन करते हैं।

शेर—हमचो सब्ज़ा बारहा रोईदा अम।
हफ़त सद हफ़ताद क़ालब दीदा अम॥

अर्थ—घास की तरह बहुत बार उगा हूँ। ७७० शरीर धारण किये अर्थात् अनेक शरीर धारण कर चुका हूँ। इस प्रकार के बहुत से उदाहरण मिल सकते हैं। बहुत से विद्वान् और महात्मा जन ऐसे हो चुके हैं जिनको न केवल अपने पूर्व जन्म की अवस्था की स्मृति थी, वरन् दूसरों के भूत और

भविष्य के समाचार भी जानते थे। इसके अतिरिक्त संसार में बहुत सी घटनायें दिखाई देती हैं, जिनका कोई निश्चित कारण सिवाय पूर्व जन्म के सिद्धान्त के समझ में नहीं आता। यह मानी हुई बातें हैं और प्रत्येक व्यक्ति के अनुभव की बात है कि कोई ऐसा कारण नहीं है जिसका परिणाम न हो और कोई ऐसा परिणाम नहीं जिसका कोई कारण न हो। यह एक साधारण सिद्धान्त है यदि यह सिद्धान्त यथार्थ है तो मनुष्य ऐसा कोई कार्य नहीं कर सकता जिसका कुछ परिणाम न हो। मनुष्य बहुत से कार्य ऐसे करता है जिनका फल मनुष्य को इस जीवन में ही मिल जाता है। शेष कर्मों का फल भी कुछ न कुछ होना ही चाहिये। और वह दूसरे जन्म में भोगना पड़ता है। मनुष्य की शारीरिक, मानसिक और आत्मिक अवस्थाओं में जन्म से ही अन्तर होता है। बहुत से लोग अत्यन्त धनवान पैदा होते हैं और बहुत से भिखारी। एक स्वस्थ है दूसरा रोगी। किसी को मानसिक और आत्मिक विशेष योग्यता होती है, बहुत से इसके विरुद्ध। यह कहना कि बहुतों को उन्नति के विशेष अवसर मिलते हैं वह उन्नति कर जाते हैं और कईयों को ऐसे अवसर नहीं मिलते, इसीलिये वह उन्नति विहीन रह जाते हैं, यह भी उनका कहना उचित नहीं है। अधिकतर ऐसा देखा जाता है कि एक माता पिता के दो पुत्र जिनको हर प्रकार की उन्नति का एक समान ही अवसर मिलता है, परन्तु एक तो अत्यन्त योग्य और दूसरा उसके विपरीत अयोग्य अर्थात् मूर्ख निकलता है। इससे कई लोग इसको वंशानुगत अर्थात् खानदानी गुण या संस्कार का कारण बतलाते हैं, परन्तु यह उदाहरण भी उचित नहीं, क्योंकि दोनों पुत्र तो एक ही माता पिता और एक ही वंश के थे। यह भी साधारण बात है कि दो भाइयों में से एक को किसी विशेष विद्या की ओर झुकाव होता है और वह उस विद्या प्राप्ति की कठिनाईयों को दूर कर लेता है और दूसरे को उस विषय से लगाव ही ही नहीं, इस अन्तर का निश्चित कारण सिवाय पुनर्जन्म के क्या हो सकता है अर्थात् इस वार्ता से पुनर्जन्म का होना सिद्ध है। यदि इसको ईश्वरीय इच्छा कहा जाये तो उसके न्याय और सच्चाई के मानने में शंका होती है कि वह एक को क्यों अच्छी अवस्था में उत्पन्न करता है और दूसरे को बिना कारण क्यों कष्ट में

डालता है। यदि इसको अकस्मात ही हुआ माना जाये तो जब हम सम्पूर्ण जगत् को नियम बद्ध देखते हैं तो कैसे मान लें कि मनुष्य की अवस्था किसी नियम पर निर्भर नहीं है। ऊपर लिखित कारण ऐसे हैं कि बिना ब्रह्म विद्या के सिद्धान्तों को माने हुये भी पुनर्जन्म के होने का विश्वास दिलाते हैं। अब रही मनुष्य की बनावट। उसके जो भिन्न-भिन्न नियम हैं वह इस विद्या में वर्णन किये गये हैं। इसके अनुसार पुनर्जन्म का होना बहुत आवश्यक है। ब्रह्म विद्या में पुनर्जन्म के होने का यह नियम वर्णन किया गया है कि जब मनुष्य का कारण शरीर प्रत्येक जन्म में स्थिर रहता है और रूप देवखान से लौटता है तो रूप देवखान में आकर अपने (मादा) देवखान के सूक्ष्म भौतिक सामिग्री को आकर्षण स्वभाविक संस्कारों के आकर्षण से ढक जाता है और फिर काम लोक में उतरता है। उस समय वह मलिन पशु-वत् वासनायें जो स्थूल संसार से उसके साथ गई थीं और काम लोक में पूरी नहीं हो सकती थीं उसकी बाट जोहती हैं अर्थात् उसकी इन्तज़ार में रहती हैं और उसे घेर लेती हैं। वे देवता जिनका यह मुख्य कर्तव्य है काम तत्व का शरीर उसके लिये बनाते हैं जिसमें मनुष्य प्रवेश कर लेता है। यह शरीर मनुष्य के पूर्व जन्मों के कर्मों के अनुसार बनाया जाता है। इस अभिप्राय से कि जो योग्तायें उसको अब प्राप्त हो गई हैं वह अपना कार्य उस शरीर में भली प्रकार कर सके, और जिन संसारिक या आध्यात्मिक इच्छाओं को उसमें गत जीवन में बढ़ाया है वह नये शरीर में पूर्ण रूप से विकसित हो सकें। जब मनुष्य का काम तत्व का शरीर तैयार हो जाता है तब उसी के अनुसार उसका स्थूल शरीर तैयार होता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार वही स्थूल परमाणु उसी नियम और ढंग से इसके स्थूल शरीर को बनाते हैं जिससे वह शरीर पूर्ण रूप से इस योग्य तैयार हो जाये कि जो शक्तियें मनुष्य ने अपने पिछले कर्मों के अनुसार प्राप्त कर ली हैं उनका विकास उसमें होवे। श्रीकृष्ण चन्द्र महाराज जी श्री गीता जी के छटे अध्याय के ४० वें श्लोक में उन लोगों के विषय में फ़रमाते हैं जिन्होंने अपनी संसारिक इच्छाओं को पूरा नहीं किया है, परन्तु भक्ति से भरे हुये हैं अर्थात् श्रद्धा करके युक्त हैं परन्तु योगाभ्यास में स्थिर न रह सके इसलिये पूर्णता प्राप्त न कर सके ऐसे मनुष्यों का इस लोक

में या उस लोक में नाश नहीं होता है। ऐसा मनुष्य मृत्यु के पश्चात् उन लोकों में जाता है जहाँ श्रेष्ट कर्मों वाले जाते हैं। वहाँ चिरकाल तक रह कर फिर वह पवित्र तेजस्वी लोगों के घर या बुद्धिमान योगियों के यहाँ जन्म लेता है। उसको पहिले जन्म की प्राप्त की हुई बुद्धि प्राप्त होती है और वह सिद्धि के लिये आगे यत्न करता है। और अनेक जन्मों के पश्चात् सिद्धि प्राप्त करके उच्च पद प्राप्त करता है। श्रेष्ठ कर्म करने वाले लोगों से तात्पर्य देवस्थान है। वहाँ मनुष्य अपने कर्मानुसार कई वर्ष रह कर फिर जन्म लेता है। और इसके पहिले कर्मों के अनुसार उसका जन्म विशेष स्थान पर होता है। विशेष स्थान में पैदा होना नीचे लिखे कुछ कारणों पर निर्भर है—

(१) रूहानी हालत अर्थात् अध्यात्मिक अवस्था। (२) दिमाग़ी और जहनी हालत अर्थात् मानसिक तथा मस्तिष्क की अवस्था। (३) हैवानी हालत अर्थात् पशुवत् अवस्था अर्थात् शारीरिक। (४) किसी विशेष व्यक्ति से विशेष राग या द्वेष। (५) किसी विशेष व्यक्ति से कोई अन्य प्रकार का सम्बन्ध। (६) किसी विशेष स्थान से स्नेह या सम्बन्ध इन छः बातों का विचार करके यह निर्णय होता है कि कोई व्यक्ति दूसरा जन्म कहाँ ले। इसलिये यदि कोई व्यक्ति किसी योगी के यहाँ जन्म ले तो यह आवश्यक नहीं कि उसकी अध्यात्मिक उन्नति भी उत्तम प्रकार की ही हो। उदाहरणार्थ मान लो कि पहले जन्म में "अ" और "ब" में ऐसे सम्बन्ध हो गये थे कि अ से ब को बहुत कष्ट पहुँचा और ब के मन में इसका अति दुख हुआ और प्रबल इच्छा इस बात की हुई कि अ से बदला ले। सम्भव है कि यह दुख इस प्रकार से पहुँचाया जा सकता है कि ब, अ के घर बेटा बन कर दूसरा जन्म ले और अपने चलन और व्यवहार से अ को दुखी करे। अब यह समझना चाहिये कि पुनर्जन्म किसका होता है। श्री भगवत् गीता के १६ वें अध्याय के ५ वें श्लोक में दैवी और आसुरी सम्पदा का वर्णन आया है जिसको देवता और असुर सम्पत् कहते हैं इन्हीं दोनों स्वभावों के कारण मनुष्य का अच्छे और बुरे कामों की ओर झुकाव होता है। ब्रह्म विद्या की सहायता से इन स्वभावों को पृथक्-पृथक् करके यह समझने की योग्यता उत्पन्न हो जाती है कि मनुष्य में असुर कौन सा है और देवता कौन सा। इन दोनों की वास्तविकता क्या

है ? यह दोनों किस प्रकार बनते हैं और दोनों मिल कर किस प्रकार मनुष्य बनता है। जो चार तत्व मनुष्य के अब तक बतलाये हैं वह पशु के अर्थात् शारीरिक अङ्ग है इन चार तत्वों से मिल कर शरीर बनता है। इसी को पशु कहते हैं। यह नाशवान् है इसी को क्षर पुरुष कहते हैं और दूसरा भाग वह है जिसको अक्षर पुरुष या देवता कहते हैं। गीता के १५ वें अध्याय के १६ वें श्लोक में इन दोनों अर्थात् क्षर, अक्षर का वर्णन किया गया है। इससे पहले यह दोनों तत्व देवता और पशु मिलाये जा सकें, यह आवश्यक है कि पशु बन कर तैयार हो जावे। फिर इस पशु के साथ देवता मिलाया जावे। इस पशु के चारों अंश स्थूल, लिङ्ग, प्राण और काम तत्व समस्त ब्रह्माण्ड में पूर्ण हैं। इनसे मिल कर चन्द्रमा, सूर्य, तारे, पत्थर, वृक्ष, पशु और मनुष्य का पशु भाग अर्थात् स्थूल शरीर बनता है। मनुष्य रूपी पशु के बनने के लिये लाखों वर्ष व्यतीत होते हैं। जिस समय यह बन कर तैयार होता है उस समय पूरा पशु होता है। वह अंश जो देवता और वास्तविक मनुष्य है इसमें नहीं होता। इसको क्षर अर्थात् नाशवान इसलिये कहा गया है कि स्थूल शरीर के छूटने के उपरान्त कुछ समय पीछे इसका नाश हो जाता है, जो अंश मनुष्य का स्थिर रहता है वह, (१) मनुष्य (२) बुद्धि और (३) आत्म हैं। इसी का पुनर्जन्म होता है (मन बुद्धि और अहंकार के संयोग से इसका आना जाना होता है।)

(५) मनुष्य तत्व।

मनुष्य में दो तत्व ऐसे हैं जिनको मन कहते हैं। एक मन इन्द्रियों से मिला हुआ है, दूसरा वह जिसको अहंकार भी कहते हैं। यह उत्तम मन है और बुद्धि से मिले होने के कारण बुद्धि मनुष्य कहलाता है। इसको शुद्ध मनुष्य भी कहते हैं। इन्द्रियों से मिला हुआ दूसरा अशुद्ध मन पशुवत वेश अर्थात् अशुद्ध संकल्पों से भरा हुआ अधम मन भी इसी को कहते हैं।

देवी भागवत् में शुद्ध अशुद्ध मन के विषय में ऐसा लिखा है।

श्लोक—"मनोहीद्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव चः।
अशुद्धं काम संकल्पं शुद्धं काम वर्जितम् ॥

अर्थ—मन दो प्रकार का होता है (१) शुद्ध (२) अशुद्ध। शुद्ध मन संकल्पों से रहित। अशुद्ध मन संकल्प और कामनाओं से पूर्ण है। शुद्ध मन ही वास्तविक मनुष्य है। इसी का बार-बार जन्म होता है। यह शुद्ध मन मनुष्य शरीर से बाहर रहता है। इसको ब्रह्माण्डी मन भी कहते हैं। शरीर से इसका सम्बन्ध अशुद्ध मन के द्वारा होता है और यह अशुद्ध मन शुद्ध मन की एक किरण है जो उसमें से निकल कर इन्द्रियों के साथ जा मिलता है। और इन्द्रियों के द्वारा उन्हीं जैसा काम करने लगता है। यही कारण है कि आप भी इन्द्रिय कहलाने लगता है। मृत्यु के पश्चात् एक समय ऐसा आता है कि यह अशुद्ध मन अन्य इन्द्रियों से पृथक् होकर फिर अपने वास्तविक स्रोत अर्थात् शुद्ध मन में जा मिलता है और पुनर्जन्म होने तक उसी में रहता है। श्री मद्भगवद्गीता के १५ वें अध्याय के सातवें श्लोक में लिखा है कि जीव लोक में अर्थात् इस देह में यह जीवात्मा मेरा ही सनातन अंश है और त्रिगुणमयी माया में स्थित पांचों इन्द्रियों को छटे मन सहित आकर्षित करता है। आठवें श्लोक में जैसे वायु गन्ध के स्थान से गन्ध को उठा कर ले जाती है वैसे ही देह आदिकों का स्वामी जीवात्मा भी जिस पहले शरीर को त्यागता है उससे इन मन सहित इन्द्रियों को ग्रहण करके फिर जिस शरीर को प्राप्त होता है उसमें ले जाता है।" ६ वें श्लोक का अर्थ—"यह जीवात्मा श्रवण, चक्षु और त्वचा को तथा रसना, घ्राण और मन को आश्रय करके अर्थात् इन सबके सहारे से ही विषयों का सेवन करता है।" दसवें श्लोक का अर्थ— "शरीर छोड़ कर जाते हुये को अथवा शरीर में स्थित विषयों को भोगते हुये को अथवा तीनों गुणों से युक्त हुये को भी अज्ञानी जन नहीं जानते। केवल ज्ञान स्वरूप नेत्रों वाले ज्ञानी जन ही देखते हैं।" यह अक्षर पुरुषोत्तम भगवान् की माया शक्ति है और क्षर पुरुष की उत्पत्ति का बीज है, समस्त जीवों की इच्छाओं और कर्मों आदिकों के संस्कारों के रहने का स्थान है। यह क्षर पुरुष नाशवान है, परन्तु जो कामनायें कर्म आदि इस क्षर पुरुष में जीवन काल में हुई हैं वही वासनायें मन, इन्द्रियों के द्वारा क्षर पुरुष से अक्षर पुरुष में चली जाती हैं और उसमें स्थित रहती हैं। क्षर पुरुष के समस्त तत्व अक्षर पुरुष से उत्पन्न होते हैं। मनुष्य ही वास्तविक देवता है जिसे ईश्वर ने कृपा

कर अपने अंश से उत्पन्न करके इस संसार में भेजा है कि स्थूल, लिङ्ग, प्राण और काम तत्व से जो एक पशु बन कर तैयार हुआ, उसकी भावी उन्नति को तीव्र करें। यह देवता इस पशु में नहीं समा सकता था इसलिये उसने इस मनुष्य शरीर की केवल एक किरण काम तत्व के साथ मिलाई है। इसी कारण इसका नाम काम मनुष्य है। इस मन का काम संकल्प के अर्थ दो वस्तुओं को मिला कर एक नई वस्तु उत्पन्न करना अथवा दो या दो से अधिक विचारों को मिला कर नया भाव उत्पन्न करना है। काम तत्व के साथ इनके मिलने का एक प्रभाव यह पड़ा कि इस मन ने अहंकार को काम का अङ्ग बना लिया अर्थात् जितनी कामनायें और कर्मेन्द्रियाँ थी उन सबको अङ्ग ही समझ लिया अर्थात् अहंकार का जो वास्तविक काम था उसमें अन्तर हो गया। शुद्ध अहंकार का वास्तविक कार्य यह है कि संसार की वस्तुओं और रूपों, चित्रों तथा चमत्कारों को अपनी-अपनी अवस्था में स्थिर रखे। जब काम तत्व के साथ मेल किया तो उसमें यह भाव उत्पन्न हुआ कि यह वस्तु मेरी है और वह मेरी नहीं अर्थात् इन्द्रियों के विशेष कार्य राग और द्वेष को अपने साथ कर लिया और इनको अपना समझ लिया। इस मन का वास्तविक कार्य यह है कि इन्द्रियों द्वारा जो ज्ञान उसे प्राप्त हो उनको एक दूसरे से मिला कर नये-नये रूप तथा भाव उत्पन्न करे। इस कार्य से मन की उत्तम शक्तियाँ, बुद्धि आदि की वृद्धि होती है, परन्तु इसके साथ जो कम दर्जे के भाव हैं मनमें उनकी भी वासना उत्पन्न हो जाती है और इस मनकी सहायता से रागद्वेष भी प्रबल हो जाते हैं।

मन में जन्म जन्मान्तरों तक यह वासनायें बनी रहती हैं, उन वासनाओं के बढ़ने के साथ-साथ ही उनकी कामनाओं के पूरा करने के साधन भी उन्नत होते जाते हैं और अधिक पुष्ट हो जाते हैं, यहाँ तक कि मनुष्य में दो प्रकार का लगाव अर्थात् रुझान उत्पन्न हो जाता है। प्रथम तो नवीनतर विशेषताओं के साथ मन काम तत्व की और प्रवृत्त होकर उसे बल देता है और वासनाओं की ओर भागता फिरता है उनके पूरा करने के यत्न में लगा रहता है। दूसरे, उसका शुद्ध मन उसको ऊपर की ओर खींचता है। यही कारण है कि उसमें आध्यात्म जीवन की इच्छा और यत्न का भाव भी उत्पन्न

होता है। इस मन की जितनी शक्तियाँ हैं वह दोहरा काम करती हैं। इन शक्तियों के काम करने का एक रूप तो ऐसा है कि जिससे काम का बन्धन अधिक दृढ़ होता जाता है और पतन होता जाता है। दूसरे कर्म ऐसे हैं कि आध्यात्म जीवन का प्रकाश बढ़ता जाता है और कर्म बन्धन ढीले होते जाते हैं। मनुष्य अपने जीवन का वास्तविक उद्देश्य अर्थात् मतलब पूरा करता जाता है। श्री पातञ्जलि मुनि ने योग सूत्र में कहा है कि चित्त वृत्तियाँ अर्थात् मनो भावों का विकास ५ प्रकार का होता है। जो आध्यात्म जीवन की ओर प्रेरित करते हैं वह अच्छे हैं और जो काम में फँसाते हैं वह बुरे कहलाते हैं। मानव शरीर में इस अशुद्ध मन की इन्द्रिय मस्तिष्क अर्थात् दिमाग़ है। इस मस्तिष्क की अच्छाई बुराई पर इस मन के काम की अच्छाई या बुराई निर्भर है। इस मन की जितनी शक्तियाँ हैं वह एक अर्थ में सब मस्तिष्क की शक्तियाँ हैं। यदि मस्तिष्क किसी शक्ति के प्रकट करने के योग्य नहीं है तो वह शक्ति स्थिर नहीं रह सकती। मनुष्य का मस्तिष्क प्रत्येक जन्म में नया होता है और पूर्व जन्म के कर्मों के अनुसार इसकी बनावट होती है, परन्तु एक जन्म के कर्म संस्कारों का प्रभाव दूसरे जन्म के मस्तिष्क में बिना यत्न किये प्रकट नहीं हो सकता। इसी कारण साधारण अवस्था में पहले जन्मों की स्मृति रहना असम्भव है। किन्तु यह समझ लेना चाहिये यदि प्रत्येक मनुष्य एक देवता है तो भी प्रत्येक मनुष्य की बुद्धि योग्यता, स्मरण शक्ति और ज्ञान का एक सा विकास नहीं होता। कारण यह है कि यह समस्त विकास मनुष्य के मस्तिष्क और क्षर पुरुष की बनावट पर निर्भर है। जिस प्रकार क्षर पुरुष के साथ अक्षर पुरुष का सम्बन्ध है वैसा ही शक्ति का विकास है। जो काम साधारण मनुष्य का होता है। वह सब अशुद्ध मन का है। मनुष्य के साधारण जीवन में शुद्ध मन का कोई विशेष विकास नहीं होता, परन्तु यह समझने के लिये कि इन दोनों मनो शक्तियों में किस प्रकार का अन्तर है इन दोनों की विशेष-विशेष बातों पर विचार करना आवश्यक है। इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है यह अशुद्ध मन को होता है। इस इन्द्रियों के ज्ञान को मिला कर नई-नई युक्तियाँ और उपज अर्थात् ईजाद उत्पन्न करने की शक्ति कुछ एक घटनाओं को सामने रख कर नये-नये परिणाम निकालना, विशेष शब्दों से

विशेष अर्थ समझने की अर्थात् मन के गूढ़ आशय को वाणी द्वारा प्रगट करने की योग्यता और संसार की वस्तुओं को अपना समझना, उन्हें अपने सुख दुख का कारण मान लेना, सुख की ओर भागना और दुख से बचना, खुशी और आराम की नई-नई युक्तियाँ निकालना, दुख दूर करने के नये-साधन सोचना, स्मृति चाहे विद्या कलाकौशल आदि के ज्ञान की हो चाहे मानसिक वासनाओं की—सारांश यह कि जो कुछ साधारण काम मनुष्य करता है या योग्यता प्रकट करता है यह सब अशुद्ध मन के काम हैं।

शुद्ध मन की एक शक्ति तो यह है कि पूर्व जन्म के वृतान्त याद हों। शुद्ध मन अति सूक्ष्मता के कारण काम, प्राण और स्वरूप के संयोग के बिना स्थूल अर्थात् भौतिक तत्त्वों पर प्रभाव नहीं डाल सकता। इसीलिये उनमें अपनी एक किरण डालता है, वह काम और प्राण के वस्त्र पहन कर मस्तिष्क के द्वारा अर्थात् मस्तिष्क के उस भौतिक शक्ति के सहारे से सारे शरीर में फैली हुई है अर्थात् ओतप्रोत है और स्थूल शरीर से काम लेती है। जो प्रभाव बाह्य वस्तुओं का स्थूल शरीर पर पड़ता है वह प्रथम भिन्न-भिन्न अंग प्रत्यगों द्वारा मस्तिष्क में जा कर स्थान बनाता है और वहाँ से स्वरूप में चेष्टा उत्पन्न होती है और स्वरूप से फिर इन्द्रियों में पहुँच कर मन को ज्ञान होता है। जब इन्द्रियाँ कामनाओं से भरी हुई होती हैं तो ज्ञान की शक्ति उन पर पूरा प्रभाव नहीं डाल सकतीं। जैसे काम क्रोध आदि की अवस्था में थोड़ी बहुत बाहर की वस्तुओं के जानने में अयोग्यता हो जाती है। इसी प्रकार मन का ज्ञान भी मस्तिष्क में नहीं ठहर सकता। प्रति दिन देखने में आता है कि क्रोध आदि के आवेश के समय साधारण अनुभूति की बातें जो बराबर स्मरण रहती हैं और जिनकी सहायता से मनुष्य अपने जीवन को वश में करता है, कदाचित याद नहीं आतीं। ऐसी अवस्था में जब आवेश का अधिक वेग होता है तो शुद्ध मन का ज्ञान मस्तिष्क तक नहीं पहुँच सकता। और शुद्ध मन की जो विशेष शक्तियाँ हैं उसका विकाश भी मस्तिष्क में नहीं हो सकता। साधारण मनुष्यों में आवेश का इतना अधिक ज़ोर होता है कि उसके कारण शुद्ध मन की चेष्टा मस्तिष्क में स्थान नहीं पा सकती। जब योगाभ्यास आदि से आवेश का दमन किया जाता है, उस समय शुद्ध मन की शक्तियाँ मनुष्य

के मस्तिष्क में काम कर सकती हैं। क्योंकि मृत्यु के पश्चात् मस्तिष्क नहीं रहता उसके पश्चात् विशेष स्वरूप प्राण और काम रूप भी जिनका सम्बन्ध उस मस्तिष्क से था टूट जाता है। इसलिये जब पुनर्जन्म होता है तो नया मस्तिष्क बनता है। यह नया मस्तिष्क दूसरे जन्म के कारण विशेष-विशेष भावों को प्रगट करने की योग्यता रखता है और दूसरे जन्म में उन्हीं भावों का ज़ोर होता है। इसलिये शुद्ध मन की अर्थात् धीमी आवाज़ के सुनने की अयोग्यता मस्तिष्क में हो जाती है। अतः पूर्व जन्म की स्मृति मस्तिष्क में नहीं आती। योगियों और महात्माओं को पूर्व जन्मों का स्मरण रहता है, उसका यही कारण है कि उनमें कामनाओं के भाव सर्वथा लय हो जाने से मस्तिष्क में वह शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि शुद्ध मन का विशेष विकास उसमें हो सके। शुद्ध मन के प्रकाश को अधिक ग्रहण कर ले।

श्री मद्भगवद्गीता के १६ वें अध्याय में जो दैव असुर सम्पत वालों के स्वभाव का वर्णन है वह एक कसोटी है। जिस मनुष्य में २६ श्रेष्ठ गुण हों, वह देवता है और जितने श्रेष्ठ गुण अधिक हों उतनी ही उन्नति सिद्ध होती है। असुर सम्पदा वाले दूसरों को हानि पहुँचाते हैं, परन्तु यह नहीं समझते कि मुझ में और उनमें एक ही आत्मा है। श्री वशिष्ठ जी महाराज ने भी योग वशिष्ठ के उपशम प्रकरण के ७३ वें सर्ग में फरमाया है कि जीवात्मा के दो हृदय अर्थात् मन होते हैं एक ग्रहण करने दूसरा त्यागने के योग्य है। जो ग्रहण करने योग्य है उसे शुद्ध मन या ब्रह्मांडी मन कहते हैं। उसी का प्रतिबिम्ब अर्थात् छाया नीचे के सब शरीरों में फैला हुआ है वही सब भूत प्राणियों का भण्डार है। जड़-मन में जब उसकी छाया पड़ती है तो जड़ मन चैतन्य हो जाता है। प्रधान हृदय में अधिक बल करके ध्यान लगाने से प्राण स्पन्द अपने आप रुक जाता है। इसका अभ्यास करने से प्राणायाम होता है और वैराग दृढ़ करने से सब प्रकार की वासनायें रुक जाती हैं। जीवात्मा प्राण अपान के बस में पड़ा हुआ कभी ऊपर कभी नीचे जाता है। ऊपर शुद्ध मन से मिल कर निज देश का ज्ञान होता है नीचे मलिन मन से मिल कर संसारी विषयों में लग जाता है। स्वभाविक ही नीचे को प्रवाह अधिक है। इसलिये संसारिक पदार्थों में अधिक लग जाता है। जब प्राण

अपान के बन्धन से छूटे अर्थात् इसको वस में करके ब्रह्मण्डी मन में मिल जावे तो आत्मानन्द प्राप्त हो, गीता के चौथे अध्याय २९ श्लोक और योग वशिष्ठ के निर्वाण प्रकरण के २१ वें सर्ग में इसका वर्णन है। योग वशिष्ठ के उपशम प्रकरण के ८ वें सर्ग में सत्संग और सत्शास्त्र के विचार की महिमा कही है कि इनके द्वारा मन बहुत ही शीघ्र वश होता है और संसारी वासनायें दूर हो जाती हैं। अब मालूम हुआ के मामूली आदमी अशुद्ध मन है जो काम आदि नीचे के चार तत्त्वों में रह कर जीवन का कर्म करता है इसको असुर कहते हैं असल मनुष्य अक्षर पुरुष है जिसकी किरण या छाया यह अशुद्ध मन है जिसको देवी सम्पत कहते हैं।

इस अशुद्ध मन के कर्मों का फल तीन प्रकार का होता है–उत्तम, मध्यं, कनिष्ठ (१) उत्तम वह जो देवी सम्पत वाले गुणों को प्राप्त करे जिससे ऊपर को उठ कर अपने शुद्ध मन में जा मिले परन्तु यह अवस्था जन्म जन्मान्तरों के पश्चात् प्राप्त होती है जब कि मन कामना की कीचड़ से शुद्ध हो जाता है—देवी सम्पत का थोड़ा बहुत असर अशुद्ध मन में पड़ता है जिसको शुद्ध मन का प्रकाश कहना चाहिये (२) मध्यम कर्म यानी अशुद्ध मन की दूसरी अवस्था यह है कि वह काम तत्व में भी फँसा रहता है और कुछ ऊपर की तरफ भी उसका झुकाव होता है। यह साधारण मनुष्य का तजुर्बा है। इसमें काम तत्व नीचे की ओर खींचता है और शुद्ध मन ऊपर की ओर खींचता है इस संग्राम में जीत गया तो मुक्त हुआ और हार गया तो अधम गति को प्राप्त होता है।

भगवद् गीता १६ अध्याय २१ व २२ श्लोक में लिखा है कि काम क्रोध, लोभ, मन के नाश करने वाले नर्क द्वार हैं इनको त्यागना चाहिये—इनके त्याग में बड़ा यत्न करना पड़ता है परन्तु जिज्ञासु हिम्मत न हारे एक जन्म में नहीं तो कई जन्मों में निश्चय मुक्ति होती है—गीता ६ अध्याय ४०-४५ श्लोक में लिखा है कि शुभ कर्म करने वाले का नाश कभी नहीं होता है वह सिद्धी प्राप्त कर ही लेता है।

एक शरीर को छोड़ कर दूसरा शरीर मिलने तक जीवआत्मा कुछ समय प्रेत लोक में रहता है। यह लोक काम लोक का एक भाग है, उसी लोक

के तत्त्वों से बना शरीर मिलता है इस लोक के इन तत्त्वों को साथ लेकर जो शुद्ध मन की पूर्ति के योग्य होते हैं वह शुद्ध मन में जा मिलता है उस वक्त दो मन नहीं रहते एक ही हो जाते हैं—इस हालत में यह आत्म बुद्धि तत्त्व के साथ मिलकर देवखान में प्रवेश करता है और संसारी जीवों की खींचातानी के पश्चात् आराम में रहता है पुण्य के फल को भोगता है जो शुभ कर्म जीवन में किये थे या शुभ चिंतन किया था या शुभ विचार स्थिर रखे थे वह सब अब प्रकट होते हैं और कर्म से शक्ति रूप में परिणित हो जाते हैं यह अवस्था गोया दिन की थकान के पश्चात् रात्रि के आराम की है। जिस तरह दिन में थक कर रात को आराम करके दूसरे दिन की मेहनत के लिये ताज़ा दम हो जाते हैं उसी भाँति इस देवखान में रह कर पहले जन्म के शुभ कर्मों की शक्ति दूसरे जन्म के कामों के लिये जीवात्मा को शक्तिवान बना देती है। अगर एक जन्म के कर्मों के पश्चात् आराम न हो तो मनुष्य आगे कर्म करने के योग्य ही न हो सके कोई शक्ति लगातार काम नहीं कर सकती बीच-बीच में ठहरना पड़ता है यह ही हाल जीवात्मा का है जितने अधिक शुभ कर्म होते हैं उतने ही अधिक समय तक देवखान में रहता है।

(३) कनिष्ट--जब अशुद्ध मन काम तत्व में इतना डूब जाता है कि शुद्ध मन उसको खींच कर अपने संग न लेजा सके तो वह शुद्ध मन से प्रथक होकर सारे का सारा ही काम तत्व में रहता है, फिर वह मनुष्य नहीं रहता और न मनुष्य बन सकता है, एक प्रकार का राक्षस हो जाता है और सिवाय जीव हिंसा के उसको कुछ नहीं सूझता संसार को दुख ही दुख देता है और स्वयं भी दुख पाता है और अन्त में बिलकुल नष्ट हो जाता है क्योंकि आत्मा और बुद्धि और मनुष्य तत्व जो असली मनुष्य एक देवता है वह तो उससे बिलकुल प्रथक हो ही जाता है इसलिये अशुद्ध मन की उस समय तक उन्नति नहीं हो सकती जब तक शरीर के साथ फिर कभी उसका सम्बन्ध न हो। जिस प्रकार कपड़े में थोड़ी देर फूल रख कर उनको निकाल लेने से फूलों की सुगन्धि कपड़े में रह जाती है उसी भाँति जब शुद्ध मन काम तत्त्व को छोड़ देता है तो कुछ दिन तक मन की वासना काम तत्त्व में बनी रहती है और मन की सब शक्तियाँ कम दरजे की उसमें बनी रहती हैं। काम, क्रोध, लोभ का

जितना वेग मनुष्य में अधिक होगा उतना ही काम रूप शक्तिमान रहेगा और उसमें गीता के १६ अध्याय के कहे हुये असुर सम्पत वालों के लक्षण होंगे।

मंशा इसका यह है कि इस प्रकार के मनुष्य प्रथम तो नर्क में जाते हैं फिर उसी आसुरी स्वभाव के साथ पैदा होते हैं और बारम्बार नरक के दुख भोगने पड़ते हैं और संसार में बुरी दशा में उत्पन्न होते हैं अगर इन कष्टों से सम्भल कर स्वभाव की बुराइयाँ निकाल डालें व शनैः शनैः शुभ कर्म करें तो फल अच्छा हो सकता है और मालिक को पा लेते हैं नहीं तो अधम गति को पाते हैं और शुद्ध मन में न मिल सकने से नीचे की ओर जाकर काम तत्त्व में मिलने से बड़ी नीच दशा हो जाती है और वे पतवार की नाव की भाँति उसको कहीं बन्दरगाह नहीं मिलता कि संसार के दुखों से आराम पावे महाराक्षस हो जाता है अन्त में ऐसे नर्क में जाता है जहाँ से छुटकारा नहीं और छिन्न-भिन्न होकर परमाणु-परमाणु अलग हो जाता है।

६ बुद्धि शरीर

जीवात्मा मन शरीर से होता हुआ जब ऊपर पहुँचता है तो बुद्धि शरीर में आता है। बुद्धि विचार शक्ति को कहते हैं। यह दो प्रकार की होती है प्रथम (१) सिफ़ाती अर्थात् संसारिक व्यवहारों में जो काम आती है। दूसरी (२) ज़ाती अर्थात् आध्यात्मिक, जिनसे आत्मा का अनुभव होता है। भौतिक विचार ५ ज्ञान इन्द्रिय, ५ कर्म इन्द्रिय, चार अन्तःकरण के द्वारा होता है। जैसे कि जीवात्मा कहता है कि मैं रंग देखता हूँ, मैं शब्द सुनता हूँ, स्पर्श करता हूँ, रस लेता हूँ, बोलता हूँ, वस्तु ग्रहण करता हूँ, आनन्द भोगता हूँ, मल त्यागता हूँ, ध्यान करता हूँ, ख्याल करता हूँ, चाहता हूँ, इच्छा करता हूँ, राग और द्वेष करता हूँ। इन बातों का विचार करके समझता है कि मैं (१) कुछ जानता हूँ, (२) मैं कुछ करता हूँ, (३) मैं कुछ सोचता हूँ, (४) मैं कुछ निश्चय करता हूँ, (५) मैं कुछ चाहता हूँ, यह ही पाँच गुरु हैं जिनसे तीन चीज़ उत्पन्न हुईं यह कुल काम वास्तव में १४ इन्द्रियों के द्वारा होते हैं। किन्तु जीवात्मा अशुद्ध मन से प्रेम रख कर और काम शरीर के वश होकर प्राण और लिङ्ग शरीर में स्थित होकर स्थूल शरीर के द्वारा जगत् के समस्त कार्य अपने में

मान लेता है कि इन सबका मैं कर्ता हूँ। (मैं) वचन कहने से बंध जाता है। क्योंकि मैं के साथ किसी न किसी का सम्बन्ध होता है। जिसको ज्ञान कर्म संकल्प कहते हैं। वाक्य शास्त्र में इस "मैं" रूपी वचन का नाम अहंकार रखा गया है। ज्ञान का नाम ज्ञान इन्द्रिय, कर्म का नाम कर्मेन्द्रिय, संकल्प का नाम मन, निश्चय का नाम बुद्धि है। मनुष्य तीन प्रकार के कर्म करता है मन से, वाणी से और कर्म से। इन कर्मों के करने में भलाई और बुराई दोनों होती हैं। यदि विषयों के प्राप्त करने में इन कर्मों को लगावे तो नीचे की योनियों में जावेगा और शुभ तथा निष्काम कर्म में लगावे तो ऊपर के लोकों में जावेगा। जब तक जीवात्मा नीचे के विचारों में लगा रहता है उस समय तक विशेष और साधारण मनुष्यों में से किसी को शत्रु और किसी को मित्र समझता रहता है। उनको स्वार्थ सिद्धि के लिये अशुद्ध मन के विचारों से किसी को हानि, किसी को लाभ पहुँचाने का यत्न करता रहता है परन्तु दुर्बलता, विवशता और निर्धनता के कारण अपनी इच्छानुसार कर्म नहीं कर सकता तो कपट, छल और दिखावे से काम निकालता है। समय और अवसर की ताक में रहता है। कुछ को वाणी से भला बुरा कह कर उनके दिलों को दुखाता है—दूसरी ज़ाती अर्थात् आध्यात्मिक बुद्धि जब आत्मा का ज्ञान हो जाता है तो सबको अपनी आत्मा जान कर सबसे ही प्रेम-भाव से बर्ताव करता है और सबका भला चाहता है। जिस अवस्था में तीनो गुण समान हालत में हों और उनको अलग करने वाली शक्ति प्रकट न हो, छुपी हो और प्रकाश की सत्ता पूर्ण हो यानी सत्ता का निश्चय इस महत्त्व में हो उस अवस्था का नाम बुद्धि है। इसलिये बुद्धि का स्वरूप निश्चय या व्यवसाय वर्णित किया है और उसमें प्रकाश की सत्ता देखी गई तो प्रकट हुआ कि उसके परे एक और अवस्था है जिसमें निश्चय का प्रकाश नहीं। सब छुपे हों उसका नाम अव्यक्त रखा है। बुद्धि से परे वह ही सातवीं अवस्था आत्मा की है जिसका वर्णन नहीं हो सकता।

७ शरीर आत्म-विचार

जिसको आत्मा का विचार हो जाता है तो वह किसी को अपने मन में बुरा नहीं समझता और न किसी के साथ बुराई करता है। बल्कि दूसरों

के दुखों को अपना दुख समझ कर उनको सुख पहुँचाने का रात दिन यत्न करता रहता है। जगत् के सब व्यवहार और ज्ञान इन्द्रिय, कर्म इन्द्रिय, और अन्तःकरण के कुल काम करता है, परन्तु आत्मा का ज्ञान होने से कमल--फूल के समान निर्लेप रहता है। श्री भगवद्गीता के ५ वें अध्याय के ६ वें श्लोक में ऐसे मनुष्य की अवस्था का वर्णन किया है कि वह तत्त्व-दर्शी होता है। वह समस्त शारीरिक एवं आध्यात्मिक कर्मों के होने पर भी उन कर्मों से निर्लेप रहता है अर्थात् सम्बन्ध नहीं रखता है, आत्मानुभव में मग्न रहता है।

१२—एक दिन इर्शाद हुआ कि फ़िरका ईजादिया अर्थात् कर्मकाण्डी मानते हैं कि जगत का वजूद अर्थात् अस्तित्व ईश्वर के अस्तित्व से भिन्न है। वह बनाने वाला और उत्पन्न करने वाला है। प्रत्येक वस्तु उसी से है। दूसरा (२) फिरका शहूदिया अर्थात् उपासना काण्ड वाले जगत को ईश्वर का प्रति बिम्ब मानते हैं। यदि कोई मनुष्य शीश महल में जावे तो उसको अपना प्रतिबिम्ब चारों ओर दीखेगा। यह प्रतिबिम्ब उसके रूप से भिन्न नहीं है। इसी प्रकार मनुष्य ईश्वर की शक्ति और सत्ता का प्रतिबिम्ब है। इन्द्र जाली के रुपए के समान जो वास्तव में मिट्टी है परन्तु चातुरी से रुपया नज़र आता है।

तीसरा (३) फ़िरका वजूदिया अर्थात् तत्ववेता। ज्ञान काण्डियों का कथन है कि केवल एक ही सत्ता है जिसको ईश्वर कहते हैं। हम सब उसमें रहते और चेष्टा करते हैं। हमारा अस्तित्व उसमें है और हर वस्तु वही है। जिसने अपने मन को पहचान लिया, ईश्वर को जान लिया। स्वभाव और गुण के कारण मन के चार नाम हैं, प्रथम नफ्स अम्मारा अर्थात् बहकाने वाला अशुद्ध मन जो मनुष्य को बुराइयों की ओर ले जाता है। इस मनको हर समय दुत्कारे। यदि इसी में ही फँसा रहा तो पूर्णता प्राप्त नहीं हो सकती। द्वितीय नफ़स लवामा अर्थात् मन की वह शक्ति यह है कि जब मनुष्य अनुचित कर्म करने लगता है तो यह उसको फटकारता है और समझाता है। शनैः-शनैः यही नफ़स मुलहिमा अर्थात् वह मन जिसको मन की अनुभव शक्ति कहते हैं उसको प्राप्त हो जाती है जिसको इलहाम अर्थात् आकाशवाणी कहते हैं। चौथा नफ़स मुतमइना अर्थात् निश्चयात्मक बुद्धि जिसको ईश्वर पर विश्वास

हो गया है, इसके पश्चात् मनुष्य जो कुछ करता है वह ईश्वर की ही ओर से होता है अर्थात् उसकी अहमता ममता नाश हो जाती है।

१३—एक रोज़ इर्शाद हुआ कि सम्बन्ध या संयोग का नाम लोक है। इसका हेतु अर्थात् उत्पत्ति के चार कारण होते हैं। (१) उत्पत्ति या जन्म। (२) वृद्धि अर्थात् बढ़ना। (३) उपपल्व, दुख, आगम, (४) वियोग अर्थात् धातुओं का अलग-अलग हो जाना। इसी का नाम जीव उपगम, मृत्यु, प्राण, निरोध या भंग लोक स्वभाव है। इसके समस्त दुखों का मूल प्रवृत्ति है और शान्ति का मूल निवृत्ति या त्याग है। यह निवृत्ति या सच्चा ज्ञान उसी को प्राप्त होता है जो समस्त जगत को एक सा देखता है।

१४—एक रोज़ इर्शाद हुआ कि मन के ५ अहंकार हैं, स्थूल, लिङ्ग, कारण, महाकारण, और कैवल्य। (१) स्थूल अहंकार के अभिमानी में पितर, गृह, धन, संसार, राग, रंग, अच्छे भोजन, सुगन्ध, अच्छे वस्त्र, सवारी और शिकार आदि की कामना रहती है। यदि यह प्राप्त हो तो प्रसन्न नहीं तो अप्रसन्न। (२) लिङ्ग कहो या सूक्ष्म कहो—इस अहंकार वाले मन में यह रहता है कि स्वर्ग तथा बैकुण्ठ के दूतों से मिलता और यंत्र मंत्र तंत्र आदि की योग्यता प्राप्त करता। राजा इन्द्र के राज्य को प्राप्त करना और उसकी विद्या जानना—यह सब मिले तो प्रसन्न नहीं तो दुखी। (३) कारण, अहंकार वाले के मन में यह ध्यान रहता है कि योग समाधि और वचन सिद्धि प्राणायाम और प्रत्याहार, भूत, भविष्य वर्तमान का समाचार जानने की सिद्धि होवे, दूसरों की देह में समा जाना, एक से सहस्र हो जाना और फिर हज़ारो से एक हो जाना यह सब इसी अहंकार के काम हैं। (४) महाकारण देह के अभिमानी को यह इच्छा होती है कि योग, वैराग, समाधि, क्रिया उपराम, तितीक्षा, शम, दम, मुमुक्षता की अवस्था और ज्ञान मिले। मैं ज्ञानी और मैं मुक्त हूँ, और दूसरे सब बन्धन में हैं, केवल मैं छूटा हुआ हूँ। ऐसी अवस्था जब पूरी हो बड़ी प्रसन्नता हो, न होवे तो दुखी होवे। जब ज्ञान हुआ तो सर्व दुख सुख भोगता है और समस्त सामर्थ्य रखता है। (५) कैवल्य अहंकार वाले की देह में यह ध्यान होता है कि मैं अद्वैत ब्रह्म हूँ, मैं आतमा अधिष्ठान हूँ। यह जगत जड़ चैतन्य सब मेरा रूप है। घड़ा और

मिट्टी, जल व तरंग, स्वर्ण और भूषण सब में हूँ। जब ऐसा भास हो तो प्रसन्न और न हों तो दुखी। इन ५ अहंकार ने नौ घर बनाये हैं जिनको ६ कोष कहते हैं।

१५—एक रोज़ इर्शाद हुआ कि ये पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनों मिथ्या हैं और इसकी सब सामिग्री झूठी है। जब जल की बूंद भूमि पर गिरती है तब भूमि उसको सुखा लेती है और उससे उत्पत्ति होती है और शरीर बन कर क्रमशः बड़ा होता है, फिर घटने लगता है, फिर मृत्यु हो जाती है। तब भूमि तत्व जो सूक्ष्म है और जिसका स्थान हृदय में है वह गल कर जल में मिल जाता है और जल का निवास स्थान उदर है। जल सूख कर अग्नि में समा जाता है और इस सूक्ष्म अग्नि का स्थान पिता में है। इस पिता की अग्नि समस्त शरीर के जल को सुखा कर आप वायु में लय हो जाती है और इस वायु का वास स्थान नाभि में है। इस नाभि की वायु समस्त अग्नि को समेट लेती है और अहंकार महातत्व से और महातत्व ब्रह्म से इसी प्रकार ब्रह्माण्ड का प्रलय होता है। पिण्ड और ब्रह्मांण्ड दोनों का एक ही ढंग से प्रलय होता है। इस कारण यह मिथ्या हैं।

१६—एक रोज़ इर्शाद हुआ, कि इस जगत को किसी कर्त्ता ने नहीं बनाया न अकर्ता ने बनाया है केवल आभास रूप है और आभास में कर्त्ता अकर्त्ता पद को प्राप्त हुआ है, पर बिना रूप है किसी का बनाया हुआ नहीं। इससे यही भावना हृदय में रखनी चाहिये कि कुछ नहीं है, क्योंकि किसी कर्त्ता से नहीं उपजा। आत्मा सब इन्द्रियों से पृथक् है और जड़ की तरह अकर्त्ता रूप है, इसको कर्त्ता कैसे कहिये, ऐसा समझो कि यहाँ मैं नहीं वहाँ कोई पदार्थ नहीं और ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो मेरा नहीं, इस विचार से देह दृष्टि नष्ट हो जावेगी।

१७—एक रोज़ इर्शाद हुआ, कि एक मुसाफिर को चलते-चलते सायं काल हो गया, परन्तु कोई वस्ती और नगर नजर न आया तो घबरा कर जल्दी-जल्दी चलना शुरू किया। यहाँ तक कि रात्रि हो गई, परन्तु बस्ती का कोई चिन्ह न मिला, तब तो बहुत व्याकुल हुआ, अन्त को कुछ दूरी पर

उजाला दिखाई दिया और उस ओर शीघ्रता से चलना आरम्भ किया। जब वहाँ पहुँचा तो क्या देखता है कि एक बड़ा नगर आबाद है और अनेक प्रकार की वस्तुओं की दुकानें खुली हुई हैं और विचित्र रौनक है। अपनी आवश्यकता के अनुसार वस्तुयें लेकर, खा पीकर सो रहा, क्योंकि दिन भर का थका हुआ था, ऐसा पड़कर सोया कि प्रातः काल सूर्य उदय होने पर आँख खुली तो क्या देखता है कि वहाँ न बस्ती है न नगर, न दुकान है न मकान, सुनसान मैदान और उजाड़ है। बड़ा चकित हुआ। उसी समय कुछ यात्री उधर से निकले, उनसे सब समाचार कहा। उन्होंने उत्तर दिया कि कई वर्षों से हम इस मार्ग से आते जाते हैं, न तो यहाँ कोई नगर था न बस्ती थी सम्भव है तुमने स्वप्न देखा होगा। यह जो नगर यात्री ने देखा, गन्धर्व नगर हो सकता है, गन्धर्वों को शक्ति होती है कि जहाँ चाहें नगर बसा दें और फिर उसको मिटा दें। प्रायः साधुओं को भी ऐसी शक्ति होती है और इतनी सामर्थ्य भी होती है कि नियत समय तक उसे इच्छानुसार ठहरा सकते हैं इसी प्रकार यह जगत भी मनोकल्पित जगत है, इसी लिये इसको गन्धर्व नगर के सदृश्य कहते हैं।

१८—एक रोज़ इर्शाद हुआ कि एक साधु ने सिकन्दर बादशाह को सेना सहित निमन्त्रण दिया और अपने शिष्य को एक झोली देकर आज्ञा दी कि अमुक स्थान पर जाकर इसको हिलाते रहो। जब झोली को हिलाना शुरू किया तो उसी समय नगर बसने लगा और नाना प्रकार के खाने पीने के और सुख भोग सामिग्री एकत्रित हो गई। समस्त सेना और सैनिकों ने खाना खाया और बादशाह भी खा पीकर एक महल में बिस्तर पर सो रहा। एक बेगम भी उसके पास सोने को आ गई। जिस समय बादशाह उसके साथ भोग-विलास में मग्न होने लगा, उसी समय साधु ने अपने शिष्य से कहा कि झोली हिलाना बन्द करदे। जिस समय झोली का हिलाना बंद हुआ उसी समय समस्त सामिग्री लुप्त हो गई और बादशाह पृथ्वी पर उल्टे मुह गिरा। उसी समय साधु ने उसको समझाया कि तेरे राज्य वैभव की भी यही अवस्था है, न तू कुछ है और न तेरा राज्य वैभव।

१९—एक रोज़ इर्शाद हुआ, कि जगत दो प्रकार का है (१) ईश्वर

सृष्टि। (२) जीव सृष्टि। यह जो पृथ्वी से लेकर आकाश तक दृष्टिगोचर हो रहा है, यह ईश्वरीय सृष्टि है। जो मन से सम्बन्ध बना लिया और जिन में मन को फंसा लिया यह जीव सृष्टि है। इसी से बचने और इसको मिटाने के लिये भजन अभ्यास इत्यादि चल रहे हैं। किन्तु ईश्वरीय सृष्टि जैसी है वैसी ही रहेगी। न इसको कोई मिटा सकता है, न उत्पन्न कर सकता है न इससे बच कर भाग सकता है और न यह किसी को हानि पहुँचाती है। सम्पूर्ण उपद्रव जीव सृष्टि का है।

२०— एक रोज़ इर्शाद हुआ कि एक राजा का लड़का अपनी प्रजा के बालकों के साथ आँख मिचोनी खेल रहा था, जब राज पुत्र की बारी आई तो इसने दोनों हाथों से अपनी आँखे बन्द कर लीं और साथियों को ढूढ़ने लगा साथी उसकी आहट पाकर खिसक जाते थे, और वह किसी को नहीं पकड़ सकता था। एक चतुर आदमी उधर से आ निकला और कहने लगा कि तुम राजा के लड़के हो। अपनी आँख खोलो और आज्ञा दो अभी सब बालक इकट्ठे हो जायेगें। राज कुमार ने कहा यह सत्य है, परन्तु खेल का आनन्द मिट जायगा। प्रायः महात्मा जन अपने स्वरुप को जानते हुये भी खेल का आनन्द लेते हैं, और लोक, परलोक दोनों का आनन्द उठाते हैं।

२१— एक रोज़ इर्शाद हुआ कि जीवात्मा जगत् का तमाशा देखता है, परन्तु यह तमाशा सदा स्थिर नहीं है जिस दृश्य वस्तु में सुख दृष्टि आता है वह बदलती है ठहरती नहीं। इससे वैराग्य उत्पन्न होता है कि इस जगत की सब वस्तुयें आने जाने वाली हैं। अमिट सुख और नित्यानन्द की खोज करनी चाहिये यही मोक्ष की इच्छा है। यह आध्यात्म उन्नति का आरम्भ है जो एक दिन मुक्ति के उच्चशिखर पर पहुँचायेगा, और मनुष्य को बतायेगा कि तेरा वास्तविक स्वरूप क्या है ? जब मुक्ति की इच्छा उत्पन्न होती है तो स्वभावों की विभिन्नता से कुछ एक मनुष्य शुभ कर्मों में लग जाते हैं कुछ एक तपस्याओं में, कुछ एक भक्ति या ईश्वरीय प्रेम में कुछ एक ज्ञान का रास्ता लेते हैं, परन्तु कर्म में राग-द्वेष और फल की इच्छा नहीं होनी चाहिये। निष्काम कर्म करना चाहिये इससे मन की मलिनता दूर होती है। योग साधनों में सिद्धि शक्तियों की ओर ध्यान न करना चाहिये, ममत्व और अहंकार से बचता रहे। ध्यान और

ध्येय एक हो जाय इससे मन का विक्षेप और चंचलता मिट जाती है। भक्ति मार्ग में जड़ और चेतन दोनों को ईश्वर रूप देखना चाहिये और अपने अहंभाव को मिटा देना चाहिये। ज्ञान से तात्पर्य अपने स्वरूप को जानना है इसमें साधन चतुष्ट का अभ्यास किया जाता है। शास्त्र पढ़ने और उनके अर्थों पर वाद विवाद करने से अद्वैत तत्व का सिद्धान्त मनुष्य की बुद्धि में ठहरने लगता है। यहाँ तक बुद्धि का काम है और यह श्रवण की श्रेणी है। मनन और निदिध्यासन के लिये वेदान्त में आचार्यों ने कुछ एक अभ्यास और साधन भी रखे हैं जिसके द्वारा मनुष्य को स्वरूप के अनुभव में बहुत सहायता मिलती है। इन ध्यान की युक्तियों से अद्वैत तत्व का भाव मन में बैठ जाता है।

(१) हंग्र उपासना, इसमें उठते बैठते चलते फिरते खाते पीते यह ध्यान रखना चाहिये कि जो कुछ है सब मैं ही हूँ मनुष्य और पशु होकर सब भोग भोगता हूँ, वृक्ष और पत्थर इत्यादि होकर पृथ्वी की शोभा हूँ, आकाश मेरा ही विस्तार है, चाँद सूर्य सितारे सब कुछ मैं ही हूँ।

(२) प्रत्येक उपासना। इसमें ध्यान किया जाता है कि जो कुछ है ईश्वर है। मनुष्य-पशु-वनस्पति, पत्थर आदि जल-थल पर्वत आकाश प्रत्येक वस्तु स्वयं ईश्वर है। यह है "सब कुछ वही है" हमा ओस्त का सिद्धान्त। सर्वं खल्विदं ब्रह्म, वास्तव में यह सब ब्रह्म ही है। यह उपासना दो प्रकार की होती है, एक निर्गुण भाव से कोई रूप दृष्टि के सामने नहीं रक्खा जाता, दूसरी सगुण भाव जिसमें विशेष कर रूप सामने रखा जाता हैं। उपनिषदों में अधिकतर प्राण और अग्नि आदि की उपासना है। प्राण निर्गुण अरूप है और अग्नि मूर्त्तिमान है।

(३) लय चिन्तन—जिस क्रम या नियम से जगत की रचना मानी गई है उसकी उल्टी विधि से चलते हैं और अनेकता को एकता में ले जाते हैं। जैसे स्थूल ब्रह्माण्ड पञ्चीकृत भूतों का कार्य है, क्योंकि कार्य-कारण का बदला हुआ रूप है। इसलिये पञ्चीकृत भूत स्वयं अपञ्चीकृत भूत हैं। इनमें पृथ्वी जल का कार्य होने से जल है, जल अग्नि है, अग्नि वायु है, वायु

आकाश है, अन्तःकरण, प्राण, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय सब महाभूत रूप हैं। महाभूत सब आकाश हैं, आकाश माया या भ्रान्ति है और भ्रान्ति ज्ञान-रूप है इस तरह सब ब्रह्म है और वह मैं हूँ।

(४) कोषचिन्तन—इसकी यह युक्ति है कि मैं अन्नमय कोष नहीं हूँ। मिट्टी का शरीर देखो, यह मर गया लोग इसको अर्थी पर रख कर ले जाते हैं और शमशान में जलाते हैं। मैं पास खड़ा हुआ देख रहा हूँ, बस मैं इस मिट्टी के शरीर से भिन्न वस्तु हूँ, इसी प्रकार मैं प्राणमय कोष नहीं क्योंकि इसका नाश भी इसी प्रकार देख रहा हूँ। मैं मनोमय कोष भी नहीं हूँ। स्वप्न में नित्य प्रति अपना मनोमय शरीर देखता हूँ। यही विचार विज्ञानमय कोष और आनन्दमय कोष के विषय में करना चाहिये। इसलिये सब कोष गिर कर शुद्ध ज्ञान स्वरूप 'मैं' देखने वाला रहता हूँ और कुछ नहीं रहता। इन साधनों के विषय में वेदान्त शास्त्रों में ऐसा लिखा है कि यह सब साधन, गुरु और शास्त्र सब माया के कारखाने हैं, परन्तु यह जो जगत का स्वप्न सच्चा होकर दिल में बैठा हुआ है इसलिये साधन स्वप्न-जगत या माया में ही दाखिल है, जिस प्रकार स्वप्न में कोई रोगी हो जाता है तो उस भ्रमात्मक रोग के लिये भ्रान्त वैद्य, उपचार और औषधि से अरोग्यता को प्राप्त कर शान्ति होती है। भ्रम ही है और भ्रमात्मक उपचार से स्वस्थ होकर मन बुद्धि में शान्ति होती है। इसी प्रकार बन्धन की भी भ्रान्ति है। इसके लिये भ्रान्ति ही गुरु, भ्रान्ति ही उपदेश और भ्रम ही साधन सबकी आवश्यकता पड़ती है। अभ्यास और उपासना में निरन्तर लगे रहने से मनो शक्तियाँ उन्नत हो जाती हैं। उत्तम स्थानों या देवताओं के लोकों में अधिकार पाकर कार्य करने लगते हैं और क्रमशः आत्मोन्नति करते हुए मन की शुद्धि प्राप्त करते हैं, इसे कर्म मोक्ष कहते हैं। इनको कल्प के अन्त तक रहना और ऊँचे लोकों में कार्य करना पड़ता है। ज्ञानी जीते जी अपने स्वरूप को पहचान लेता है कि मैं शुद्ध ज्ञान स्वरूप आत्मा हूँ, न मुझे कभी बन्धन था न अब है और न आगे होगा, जगत मेरा स्वप्न है और यह कौतूहल मेरे नेत्रों के सामने होता है और वह स्वरूप--आनन्द में मग्न रहता है। मन की ऐसी अवस्था का नाम मोक्ष है। ऐसे मनुष्य को जीवन मुक्त कहते हैं, परन्तु यह शरीर जो प्रारब्ध

कर्मों से बना है, इसलिये जब तक वे पूर्ण न हो जावें उसका ठहराव रहता है और कुछ अविद्या या अज्ञान शेष रहता है जिसको अविद्या लेश कहते हैं। परन्तु यह उत्थान में बन्धन का कारण नहीं होता, वह अपने स्वरूप को समझे हुआ है। जब वे कर्म जिनसे शरीर प्रारम्भ हुआ है, फल देकर मिट जाते हैं तो शरीर की भी समाप्ति हो जाती है। इसको विदेह मुक्त कहते हैं। वह स्वरूप आनन्द की उस समाधि में मग्न होता है जिससे फिर उत्थान नहीं है जिसमें संसार और उसके दुखों के अनुभव के स्थान पर अपने स्वरूप का अनुभव हो जाता है जो अनुपम और अलौकिक आनन्द है। मुक्त पुरुष के लिये यह कुतूहल हो चुका और वह अपने आपमें स्थित है।

२२—एक रोज़ ईर्शाद हुआ कि चेतन के दो माने हुए रूप हैं, एक सामान्य, दूसरा विशेष। जो थोड़े देश और थोड़े काल में सीमित दृष्टिगोचर हो उसको विशेष कहते हैं, जो सर्व काल और सर्वदेश में उपस्थित हो उसको सामान्य कहते हैं। अन्तःकरण रूपी देश और अज्ञान रूपी काल में जो चेतन का चिदाभास है वह अन्तःकरण और दस इन्द्रियों के सहित, जिनको चौदह त्रिपुटी अर्थात् इन्द्रिय-विषय देवता भी कहते हैं, सर्व कर्मों को करता है इसलिये इसको विकारी और मिथ्या कहते हैं, जैसे सूर्य कोई व्यवहार जलाने और अन्न पकाने का नहीं करता, परन्तु आतशी शीशे के सम्बन्ध से जो अग्नि उत्पन्न होती है वह सब काम देती है। मिट्टी के जल भरे बर्तन में सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है। यदि जल सूख जावे या बर्तन टूट जावे तो प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर नहीं होता। वास्तव में वह प्रतिबिम्ब कहीं आया या गया नहीं। इसी प्रकार शरीर रूपी बर्तन में प्राण रूपी जल है। इसमें जो व्यापक चेतन का प्रतिबिम्ब पड़ता है, तो शरीर चैतन्य होकर नाना प्रकार की चेष्टायें करता है। जब प्राण और शरीर का वियोग हुआ, उस समय प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर नहीं होता। इसी को मृत्यु कहते हैं, परन्तु सामान्य चेतन उस समय भी अस्ति, भाँति, प्रिय करके उपस्थित रहता है।

२३—एक रोज इर्शाद हुआ कि शरीर के नाश हो जाने को मृत्यु कहते हैं। किन्तु यह नाश किसका होता है? शरीर प्रारम्भ तत्वों से है तो

तत्व सर्वदा जीवित और स्थिर हैं। परिवर्तन रूप से अनुमान करना चाहिये कि तत्व न कहीं जाते हैं और न कहीं से आते हैं, जैसे थे वैसे ही हैं, और जाना आना भी स्वरूप ही है। शरीर के नाश होने को समझना चाहिये कि जैसे पुराना वस्त्र उतार कर नया धारण कर लिया, यह शरीर आत्मा का बाह्य वस्त्र है। शरीर को सर्वदा स्थिर रखने की आशा ऐसी है जैसे मनुष्य शुद्ध वस्त्रों से निराश होकर एक ही फटा पुराना वस्त्र चिर काल तक पहनना चाहे। यह शरीर मल मूत्र का भण्डार है फिर योग साधन से अधिक समय तक शरीर को स्थिर रखना ही विचित्र बुद्धिमत्ता है, परन्तु जब कामनायें दिल से दूर हो जावें तो फिर शरीर स्थिर रहा तो क्या, न रहा तो क्या। यदि शरीर को सदैव रखने की इच्छा हो तो यही समझ ले कि सम्पूर्ण संसार मेरा ही शरीर है और यदि कुछ करता है तो इसमें तन देई करे अर्थात् तन को लगा कर उसके लिये पुरुषार्थ करे जिसमें कि मन न हो। जो वस्तु स्थिर है उसमें परिश्रम की आवश्यकता नहीं। यह शरीर तो बे खबर है इसमें जो ज्ञेय है वह ही अपना स्वरूप है, देखो कि शरीर तो एक स्थान पर स्थिर रहता है और स्वयं कहाँ २ घूमता है, यही चित चैतन्य है जो भजन अभ्यास से विमुख (ग़ाफ़िल) हो कर कभी सुख आराम की ओर लगता है और कभी संसार में अपनी इच्छा पूर्त्ति को खोजता है, परन्तु किसी से इसकी लाग नहीं। न भगवान् में न शरीर में। ऐसा निःस्वार्थ मित्र कौन होगा कि शरीर से सर्वदा पृथक् है और उसकी पालना में प्रतिक्षण लगा रहता है, जब शरीर को कोई पीड़ा या दुख होता है हाहाकार मचा देता है। समस्त संसार इससे पूर्ण और यह समस्त संसार से पृथक् है। वैराग्य और आत्म निरूपण भी यही हैं, कि यह शरीर सदा से हमारे साथ है और इससे हम प्रथक् हैं, क्योंकि आत्मा किसी काल में नष्ट नहीं होती, बुढ़ापा और योवनावस्था में एक ही रस रहती है।

२४—एक दिन एक सत्सङ्गी सेवा में उपस्थित हुआ, और प्रार्थना की कि महाराज जी ! प्रायः महात्मा लोग कहते हैं कि ईश्वर को हमने देखा है, परन्तु उसके वास्तविक स्वरूप का वर्णन नहीं कर सकते और न यह बतलाते हैं कि कैसा है, और कैसा नहीं है। यदि वास्तव में उन्होंने देखा है तो बताते क्यों नहीं। आपने फ़रमाया कि हमको एक दृष्टान्त याद आया—

किसी भारतीय ग्रामीण को काबुल की ओर जाने का अवसर प्राप्त हुआ। वहाँ पर पठानों को फ़ारसी बोलते सुन कर, फ़ारसी बोलने का चाव हुआ, किसी की ज़ुबान से यह वाक्य सुना कि 'दीदम वले न गोयम' अर्थात् देखा है परन्तु कहता नहीं हूँ और इसको कण्ठ कर लिया। जब भारत में अपने ग्राम में लौट कर आपहुँचा तो काबुल के बड़े-बड़े समाचार सुनाये कि हमने यह देखा और वह देखा। हम फ़ारसी बोलना सीख आये हैं। तथा सब लोगों को वही वाक्य सुनाया करता था। वह विचारे ग्रामीण क्या समझते उसकी बात पर विश्वास कर लिया करते थे कि वास्तव में जो कुछ इसने देखा है सच्च कहता है और यह फ़ारसी पढ़ गया है और उसका बड़ा मान करने लगे। दैव इच्छा से कुछ काबली पठान ऊँटों पर मेवा लाद कर व्योपार के निमित्त भारत में आये। उस गाँव के पास पहुँच कर उनका एक ऊँट मेवा से भरा बिछड़ गया। उसको जगह-जगह पर ढूँढ़ते और सबसे पूछते फिरते थे, परन्तु उनकी बोली कोई नहीं समझता था—जब उस गाँव में पहुँचे तो लोग उनको उस मनुष्य के पास ले गये और कहा कि यह तुम्हारी बोली समझता है। इससे पूछो, उससे उन्होंने फ़ारसी में पूछा कि हमारा ऊँट देखा है, तो उसने वही उत्तर दिया "दीदम वले न गोयम" पठानों ने समझा कि वास्तव में इसने देखा है। किन्तु यह कुछ रु० आदि चाहता है, तब बतावेगा। इसलिये इसको बहुत कुछ लालच दिया, परन्तु जब वह वही उत्तर देता रहा तो पठानों को क्रोध आ गया और सब के सब उस पर टूट पड़े और दवादव ऐसी कुटाई की कि हड्डी पसली सब नरम कर दी। गाँव वालों ने बड़ी कठिनाई से उसे छुड़ाया और उससे पूछा कि भाई बताओ तो सही कि क्या हुआ—ये बातों में लातों की नौबत कैसे आ गई, पिट कुट कर विचारे की अक्ल ठिकाने आई और कहने लगा कि मैं इनकी बोली नहीं समझता हूँ परन्तु पठान इसको कब छोड़ने वाले थे विवश होकर नगर में किसी फ़ारसी के विद्वान के पास इसे ले गये और उन्होंने अपना सब समाचार सुनाया। वह बहुत हँसा और पठानों से कहा कि इसने कुछ नहीं देखा है झूठ मूठ ही इस वाक्य को याद कर आया था और कहता फिरता था, इस प्रकार सब को समझा बुझा कर उस ग़रीब का पिण्ड छुड़ाया, बस आजकल के साधुओं की भी प्रायः यही

अवस्था है। दस पाँच वाक्य शास्त्रों के और कुछ रामायण आदि के दोहे चोपाई याद कर लेते हैं। न उनके अर्थों की समझ, न उनके विषय से परिचय और फिर जहाँ देखो वहाँ उन्हीं को ठोगते हैं।

शेर— हज़ार नुक्तये बारीक तर, जेमू ईजास्त।
न हर केसर बितराशद, क़लन्दरी दानद ॥

अर्थ— बाल से भी बारीक इस ज्ञान मार्ग के हजारहा नुक़ते अर्थात् भेद हैं। सिर के मुण्डवाने से कलन्दरी अर्थात सच्ची फ़क़ीरी प्राप्त नहीं हो सकती।

२५—एक रोज़ इर्शाद हुआ कि श्री बाबा नानक जी के पास मरदाना नाम के एक व्यक्ति उनके शिष्य रहते थे। वहाँ पास ही एक बनिये की दुकान थी उससे आटा, दाल, मिठाई आदि लेकर खाया करते थे। जब उसका बहुत रूपया हो गया और उसने माँगा तो मरदाना ने कहा चलबे, हमने तेरा कुछ नहीं खाया, वह बनिया बाबा जी के पास पुकार सुनाने आया, उन्होंने मरदाना से पूछा कि क्या इससे लेकर आप ने खाया है तो वह साफ़ नट गये। बनिया बहुत हाई दुहाई करने लगा कि महाराज यह झूठ बोलते हैं। जब बाबा जी ने फिर पूछा तो मरदाना ने कह दिया कि इन्कार इक़रार तो मैं समझता नहीं हूँ, हाँ आपकी आज्ञा का पालन करता हूँ। आपकी वाणी है कि "कर के भूल जावो, और खाकर मुकर जावो"। बाबा साहब यह सुन कर बोले कि हमने इससे आगे भी तो कुछ कहा है, वह क्यों नहीं कहते मरदाना ने कहा कि हुजूर की एक बात मानने से ही मनुष्य का निस्तारा हो जाता है मैंने तो इतनी वाणी का ग्रहण किया, हजूर की समस्त वाणियां मेरे भाग्य में नहीं आनी चाहिये। बाबा साहब हँस कर चुप हो गये और बनिये का हिसाब चुका दिया ॥

२६—एक दिन महता प्रभु दयाल जी श्री चरणों में उपस्थित हुये और एकोऽहं ब्रह्म के सिद्धान्त पर बातचीत करते करते कहने लगे कि जब सब ब्रह्म ही है तो माता और धर्मपत्नी में क्या अन्तर रहा। यह सुन कर श्री महाराज ने फ़रमाया कि हमको एक बात याद आई है। एक मौलवी

साहिब जो सेंट जौन्स कालिज आगरा के प्रोफेसर थे, वह बहुत गम्भीर और साधु सेवी थे। विद्यार्थियों को पाठ पढ़ा रहे थे कि कुछ एकता का सम्वाद छिड़ गया। उस पर एक विद्यार्थी लाला पन्ना लाल जी ने जो आर्य समाजी थे मौलवी साहिब से कहा कि जब ईश्वर प्रत्येक वस्तु में है तो आप विष्टा क्यों नहीं खाते। उस समय तो मौलवी साहिब चुप रहे, परन्तु दूसरे दिन उस विद्यार्थी से कहा कि अज़ीज़ कल आप ने ऐसी बात कही जो शिष्टाचार और सभ्यता दोनों के विरूद्ध थी। देखो विष्टा एक ऐसी वस्तु है कि यदि मनुष्य खाना चाहे तो खा सकता है, परन्तु यदि तुम कहो कि लोहा या पत्थर खा लो तो वह ऐसे कड़े हैं यदि उन्हें कोई खाने का यत्न भी करे तो खा चबा और निगल नहीं सकता। इससे यह सिद्ध होता है कि ईश्वर ने जो वस्तु खाने की बनाई है या यूं कहो कि जिस को हमारी बुद्धि ने खाने के लिये चुना है वही खाई जाती है। इसी प्रकार जो वस्तु जिस काम के लिये निश्चित की हुई है उससे वही काम लिया जाता है, प्रत्येक काम में वह उपयुक्त नहीं होती। दूसरे, विष्टा मनुष्य का खाद्य पदार्थ नहीं वरन् किसी न किसी का आहार तो है ही। सूअर और कुत्ते जिनका वो आहार है उसे ऐसे आनन्द से खाते हैं जैसे मनुष्य मन भाती वस्तु को खाता है। केवल जानवर पर ही निर्भर नहीं है वरन् कई एक दीवाने लोग जो बुद्धि विचार की सीमा से हट गये या बालक जिनकी बुद्धि समझ बूझ तक नहीं पहुँची, और अघोरी महात्मा जो अक्ल की सीमा से बढ़ गये हैं और जिनकी विचार शक्ति ऊर्ध्वगामी और विस्तृत हो गई है, इसके खाने से किंचित भी घृणा नहीं करते। इसलिये जो अपनी बुद्धि अनुसार चलने वाले हैं उनको बुद्धि विचार से काम लेना पड़ता है।

(२७) एक दिन एक सत्संगी ने विनय किया कि श्री महाराज जी! नाम व रूप सब मिथ्या हैं, तो फिर भजन और ध्यान किसका करना चाहिये। आपने फ़रमाया कि नाम रूप निःसंदेह असत्य है, जब नाम रूप दोनों ही मिथ्या हैं तो फिर हम और आप कैसे सत्य हो सकते हैं। इसलिये असत्य की असत्य के साथ मित्रता होनी ठीक है। इससे यह परिणाम निकलता है कि नाम और रूप का भजन करना उचित है। जब विचार नाम रूप के परे होगा तब यह नाम रूप आप ही छूट जायेंगे और यह बात उत्पन्न हो जावेगी—

"कर से जपूं न मुख से बोलूँ उर से कहूँ न राम।
मेरा राम मोको जपे तभी पाऊँ विश्राम॥

(२८) एक रोज़ इर्शाद हुआ कि एक पंडित जी ब्रह्म ज्ञानी हमारे पास आये और एकोब्रह्म के विषय में बहुत व्याख्यान दिया। हम बैठे सुनते रहे। पंडित जी कुछ रोगी भी थे, जब ब्रह्म का कथन कर चुके तो अपने रोग का रोना रोने लगे, परन्तु हमने उनके साथ कुछ सहानुभूति प्रकट न की, किन्तु यह कह दिया कि पंडित जी आपको कुछ रोग नहीं, केवल आपका भ्रम है, और इसके कारण कष्ट में पड़े हो, यह सुनकर कुछ दुखित होकर उठ गये, और बाहर लोगों से हमारे रूखेपन की कुछ शिकायत भी की। जब दूसरे दिन हमारे पास आये तो हमने कहा कि पंडित जी कई एक मनुष्यों की दृष्टि कुत्ते की सी होती है और किसी की शेर की सी, कुत्ते का स्वभाव है कि जब उसे ढेले से मारो तो पहिले ढेले की ओर लपकता है यदि शेर की ओर कोई तीर फैंके तो वह फैंकने वाले पर झपटता है, परन्तु पंडित जी केवल वाचक थे सारांश को न पहुँच सके।

(२९) एक दिन एक सत्संगी ने पुस्तक विचार-माला पढ़ कर जीव और ब्रह्म के विषय में कुछ प्रश्न किया। श्री महाराज जी ने उसको कई प्रकार से उलट फेर कर समझा दिया और प्रत्येक प्रश्न का उत्तर ऐसा था जिसको प्रश्न कर्त्ता ने स्वीकार कर लिया, उस समय आपने फ़रमाया कि भजन करना है तो सीधी तरह से जो युक्ति तुम्हें भावे उसे ग्रहण करो और उस पर चलो सब विषय सुलझ जायेंगे। यदि ज्ञान के गुलगुले तलने हैं तो उमर भर इसी प्रकार सिर पचाते रहोगे खाक भी हाथ न आवेगा। पुस्तकों का कीड़ा बनने से ब्रह्म की समझ आ जाती तो कबीर जुलाहे के दरवाज़े पर पंडित लोग माथा क्यों रगड़ते। बहुत ग्रन्थों के पढ़ने से तो एक प्रकार का अहंकार हो जाता है कि हमने इतनी विद्या प्राप्त कर ली है और ऐसा परिचय प्राप्त कर लिया है कि अब हमको बताने समझाने वाला रहा ही कौन है।

"पाण्ड़े काज़ी को मत हीनी, पोथी पढ़-पढ़ थोथी कीनी।
मन इरफ़ान की सुद्धि न लीनी, ताते उनकी बुद्धि हर लीनी॥

ब्रह्म का जानना अथवा यूं कहना चाहिये कि अपने आपको जानना

ऐसा ज्ञान है जिसका ग्रन्थों से ज़रा भी सम्बन्ध नहीं। श्री कबीर साहिब तो नाम तक लिखना नहीं जानते थे परन्तु अनुभव ऐसा था कि सम्पूर्ण संसार का ज्ञान उन्हें दर्पण के समान था। श्री गुरु नानक जी के विषय में भी ऐसा ही कहा है और शेख़ सादी साहिब ने भी लिखा है।

"बे इल्म नतवाँ ख़ुदारा शनाख़त"

अर्थात्—बिना विद्या के ईश्वर की पहचान नहीं हो सकती। उस ब्रह्म विद्या के अर्थ पुस्तक ज्ञान नहीं है वरन् वो विद्या है जिसको अनुभव कहते हैं, विद्या के शब्दार्थ भी जानने अर्थात् ज्ञान के हैं और यह ज्ञान पुस्तकों से सम्भव नहीं।

शेर—"दर कंज़े हिदाया नतवां याफ़त ख़ुदारा।
दर मसहफ़े दिलबीं, कि किताबें बह अज़ीं नेस्त" ॥

अर्थ—कन्ज़, हिदाया दो किताबें हैं मुसलमानों में। मतलब यह है कि किसी वेद शास्त्र में भी ईश्वर को नहीं पाया, इसलिये अपने दिल की किताब में देख कि कोई किताब इससे अच्छी नहीं है।

अपनी खुदी ही परदा है दीदार के लिये।
वरना कोई तलाश नहीं यार के लिये॥

हाँ दिल की पुस्तक पढ़ने से ज्ञान सम्भव है और भजन की जो युक्तियाँ सन्त महात्माओं ने रखी हैं उनमें दिल की किताब से ही पाठ आरम्भ होता है। इसी नियम से जो परिचय प्राप्त होता है, उसमें पूछने पुछाने और सन्देह आदि की आवश्यकता नहीं होती। दृष्टान्त है कि किसी ऋषि का लड़का काशी जी में बहुत समय तक पढ़ने के पश्चात् जब अपने घर लौट कर आया तो उसको अपनी विद्या का ऐसा अभिमान हो गया कि उसने अपने पिता को प्रणाम भी न किया। उस ऋषि ने भी इस बात को जान कर लड़के से कहा कि तुमने कोई ऐसी विद्या भी पढ़ी है जिसमें एक को जानने से सबका ज्ञान हो जाये, यह सुनकर लड़का चकित रह गया और कहने लगा कि पढ़ना कैसा, मैंने तो ऐसी विद्या का नाम तक नहीं सुना है, एक-एक बात को सीखने में मेरा तो इतना समय व्यतीत हुआ है यदि ऐसी ही कोई विद्या सीख लेता तो इतना परिश्रम क्यों करना पड़ता। ऋषि ने कहा कि तुमने व्यर्थ

इतना समय नष्ट किया है यह विद्या तो ऐसी है कि ऋषि कुल के बच्चे तक भी जानते हैं और तुम को अभी तक भी न प्राप्त हुई। उस समय उसको अपने पिता में श्रद्धा हुई, हाथ जोड़ कर प्रणाम किया और उस विद्या के पढ़ाने के लिये प्रार्थना की। उन्होंने उसे कुछ लंघन कराये और आप भी भूखे रहे। जब लड़का भूख से तंग आ गया तो उससे शास्त्रार्थ करने बैठे। लड़के ने कहा कि भूख के मारे यह अवस्था हो गई है कि जितना कुछ पढ़ा था सब याद से जाता रहा। अब शास्त्र आदि सब भूल गया हूँ। तब उन्होंने कहा कि देखो जितनी विद्या तुमको प्राप्त थी वह तो भौतिक थी, जैसे-जैसे तत्व निर्बल होते गये तुम्हारी विद्या घटती गई। अब मैं एक-एक तत्व का बल देता हूँ और फिर तुम्हारा नया परिचय आरम्भ होने लगेगा अर्थात् तुमको विद्या स्मरण हो जायेगी। इस प्रकार उस पर प्रभाव डालना आरम्भ किया जिससे उसे सम्पूर्ण तत्वों का ज्ञान हो गया। तत्पश्चात् उसको बताया कि जिसमें सम्पूर्ण तत्वों का ज्ञान होता है, उसका जानना शेष रह गया है। उसकी युक्ति पीछे बताई।

(३०) एक रोज़ इर्शाद हुआ, कि "अन्धे को दर्पण"। संसारी लोगों का वेद पुराण पढ़ना अन्धे को आरसी दिखाने के समान है। जिस प्रकार अन्धा शीशे में कुछ नहीं देख सकता उसी प्रकार वह लोग भी वेद पुराण से कुछ भी आनन्द लाभ नहीं कर सकते। यदि अन्धा आइना हाथ में लेकर गर्व करे कि मुँह देखने की सामिग्री मेरे पास है तो आखों वाले उसको देखकर हँसते हैं और उसको मूर्ख जानते हैं। वैसे ही अशुद्ध अन्तःकरण वाले लोगों का वेद पढ़ना है। जैसे अन्धा हाथ से टटोल कर पदार्थ को स्पर्श करता है परन्तु उसके स्वरूप के आनन्द को प्राप्त नहीं कर सकता, वैसे ही अशुद्ध अन्तःकरण वाले लोग वेद पुराण भले ही पढ़ जावें, परन्तु उनके यथार्थ अभिप्राय को नहीं समझ सकते। उन लोगों की अवस्था कलछी के समान है जो सहस्रों व्यञ्जनों में पड़ती है, परन्तु स्वाद किसी का भी नहीं प्राप्त कर सकती।

अधीत्य चतुरो वेदान धर्म शास्त्राणा-नेकशः।
ब्रह्म तत्व न जानाति दर्वीपाक रस यथा॥

अर्थ—जैसे अनेक पाकों में पड़ने वाली कलछी उन भोजनों के स्वादों को नहीं जानती, वैसे ही लोग चार वेद और अनेक शास्त्रों को पढ़ कर भी ब्रह्म तत्व को नहीं जानते। शास्त्र के अध्ययन का लाभ प्राप्त नहीं कर सकते।

शेर—न मुहकिक शबद न दानिश मन्द।
चार पाये बरो किताबे चन्द॥

अर्थ—यदि पशु पर किताबें लाद दी जायें, तो वह ज्ञानवान और बुद्धिमान नहीं बनता। शुद्ध हृदय आँख के समान है और वेद पुराण ऐनक व दुरबीन के समान हैं, परन्तु ऐनक और दुरबीन से वही मनुष्य देख सकता है, जिसकी आँख हो।

'यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा, शास्त्रं तस्य करोति किम्,
लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणं किं करिष्यति।'

अर्थ—जो स्वयं बुद्धि हीन है उसके लिये शास्त्र क्या कर सकता है। नेत्र हीन को दर्पण क्या कर सकता है।

३१—एक रोज़ इर्शाद हुआ कि दरिया के मध्य में जहाज़ पर एक कौवा बैठा हुआ था। उसने जहाज़ से उड़ कर कहीं दूसरी जगह जाना चाहा। हर प्रकार से चारों ओर चक्कर काटे, परन्तु जिधर देखा पानी ही पानी नज़र आया। विवशता से और स्थान न मिलने के कारण निराश होकर अपने उसी स्थान पर अर्थात् जहाज़ पर लौट आया। इसी प्रकार यह चित्त भी सदा सांसारिक कामनाओं की पूर्ति के लिये जगत में चारों ओर दौड़ता फिरता है। अन्त में उनको नाशवान समझ कर व्यर्थ भ्रमण से रहित हो जाता है, जब सब ओर से थक कर रह जाता है तब सच्चिदानन्द प्राप्ति की इच्छा होती है, बस यही भक्ति है।

अरे रे मन प्रधावति पिशाचवत अभिमन्नं पशय चातमानं,
रागत्यागात् सुखी भव।

अर्थ—ए मन, पिशाच की भाँति क्यों भागता फिरता है। आत्मा को अभिन्न जान कर सुखी होजा।

३२—एक रोज़ इर्शाद हुआ कि एक बंगालिन अपने पति से अत्यन्त प्रेम करती थी और उसको प्राण से भी अधिक प्रिय समझती थी।

परन्तु उसकी सास ऐसी झगटहाई थी कि वह सदा पुत्र वधु से झगड़ा रखती थी। उसने अपने पुत्र को भी स्त्री के विरुद्ध कर रखा था अर्थात्-बहका रखा था, जब कभी माँ के सिखाने भड़काने से वह अपनी स्त्री को तंग करता या धमकाता तो वह बड़ी नम्रता के साथ सदा यही उत्तर देती की आप सच्चे और झूठे प्रेम में पहचान नहीं कर सकते। अन्त को उसके पति ने सोचा कि इसकी बात की परीक्षा करनी चाहिये कि इसकी बात में कहाँ तक सच्चाई है। उसने अपने मित्र से सलाह करके कहीं बाहर जाना विचार करके तैयारी आरम्भ कर दी और घर से विदा होकर कहीं छिप कर बैठ रहा। दो तीन दिन के उपरान्त अपने मित्र को सिखला कर घर भेजा कि तू मेरे घर जाकर रोना पीटना और कहना कि वह अमुक गाँव में मेरे साथ गया था, लौटते समय मार्ग में शेर ने मार डाला, मैं कठिनता से बच कर यहाँ तक पहुँचा हूँ। जिस समय घर आकर उसने यह शोक जनित घटना सुनाई तो उस मनुष्य की माँ ने तो रोना पीटना आरम्भ किया और अड़ोस पड़ोस की स्त्रियाँ भी एकत्रित हो गईं, परन्तु उसकी स्त्री जो किवाड़ की आड़ में होकर सब बातें सुन रही थी वहीं की वहीं मर गई और अपनी सास के साथ शोक मनाने की साथी भी न हुई। जब बहुत समय हो गया तो उसको अन्दर जा कर देखा कि पति की मृत्यु का समाचार सुनकर ही उसका प्राण निकल गया था। जब उसके पति ने घर आकर सब समाचार सुना तो उसको अपने बर्ताव पर अत्यन्त पश्चाताप हुआ और उसकी ऐसी अवस्था होगई कि उस सती की याद में घर त्याग कर दीवानों के समान घूमने लगा।

प्रेम सगा सोई सगा हाड़ा सगा न जान।
मात खड़ी तिरिया जले यही प्रेम की बान॥

३३—एक रोज़ इर्शाद हुआ कि एक भक्त तीर्थ यात्रा को चले और भगवत सिंहासन सिर पर रख लिया, एक छड़ी हाथ में ले ली। जहाँ कहीं ठहरते छड़ी को पृथ्वी में गाड़ देते और सालिग्राम जी का बटुवा उस पर लटका देते। एक बार वह छड़ी कहीं भूल गये। विश्राम स्थान पर पहुँच कर याद आई तो प्रेम के आवेश में कहने लगे कि झाड़ू देने वाला, पानी भरने वाला, रसोई बनाने वाला, सेवा करने वाला, सवारी देने वाला, निश्चय

करके यही दास है। क्या जो काम आपका है वह भी इस सेवक को सौंप दिया अर्थात् अन्तः करण के प्रेरक तो आप हैं, यदि याद भूल गई तो इसमें भूल किसकी है। अब विचार करना चाहिये कि भला या बुरा ऐसा कौनसा काम है जो अन्तःकरण की प्रेरणा के विना किया जाता है। और जब अन्तः-करण का प्रेरक उसको मान लिया तो मनुष्य किस प्रकार दोष का भागी हो सकता है।

३४—एक दिन एक साहिब ने कहा कि भक्ति से ज्ञान श्रेष्ठ है क्योंकि भक्त तो अपने ईश्वर के आधीन रहते हैं और भला आधीनता में सुख कहाँ। यह सुन कर श्री महाराज जी ने फ़रमाया कि भक्ति का यह लक्षण बताना उचित नहीं, वास्तव में सच्चे भक्त आधीन नहीं होते, परन्तु वे तो स्वामी को अपना समझते हैं अन्य नहीं समझते। वहाँ भिन्नता तथा आधीनता कैसी और दुख कहाँ वरन् उसके आनन्द और सुख का वर्णन नहीं हो सकता। भक्ति से तात्पर्य अनन्य भक्ति है।

३५—एक रोज़ इर्शाद हुआ कि यदि किसी करोड़पति मनुष्य को सौ रु० की आवश्यकता है तो वह उस रु० के लिये कुछ भी चिन्ता नहीं करता, वह जानता है कि करोड़ों रु० रखा हुआ है जब चाहूँगा इसमें से सौ रु० निकाल लूँगा। इसी प्रकार भक्त जन भी यह समझते हैं कि समस्त वस्तुओं का कोष भण्डार उनके इष्ट देव हैं। जब उनको प्राप्त कर लिया तो समस्त वस्तुयें प्राप्त हो गईं। अब किसी बात की चिन्ता तथा चाहना व्यर्थ है क्योंकि जिस वस्तु की आवश्यकता होगी वह तत्काल इस भण्डार में से मिल सकती है। नरसी आदि भक्तों की कथाओं से यह सिद्ध है कि समय पर उनको तत्काल सहायता मिली। ऐसे ही ब्रह्मज्ञानी को जब पूरा ज्ञान हो गया तो समस्त वस्तुऐं उसे ब्रह्म रूप दिखाई देती हैं। कोई वस्तु उससे बाहर वा भिन्न नहीं दीखती। यही कारण है कि उसको किसी वस्तु के प्राप्त करने की इच्छा नहीं होती वरन् समस्त वस्तुयें प्राप्त रूप दीखती हैं। जब आवश्यकता हुई व्यवहार में ले आये और व्यवहार में लाना भी कैसा, जैसा काम होता है उसका सामान भी अपने आप आ उपस्थित होता है। इसीलिये कहते हैं कि भक्ति और ज्ञान स्वयं आदर्शरूप हैं, क्योंकि इनमें किसी और

वस्तु के प्राप्त करने की इच्छा, वासना शेष नहीं रहती। तुलसी दास जी ने कहा है।

भगतिहि ग्यानहिं नहिं कछु भेदा, उभय हरहिं भव सम्भव खेदा।

३६—एक दिन रात के दो बजे मुख्य २ सत्संगियों का सत्संग हो रहा था और श्री महाराज जी स्वयं अपने सन्मुख प्रत्येक सत्संगी से भजन करा रहे थे और उनसे पूछते थे कि इसमें क्या चाहते हो। किसी ने कहा कि मैं ध्यान लगाना चाहता हूँ उसको वह युक्ति बता दी, किसी ने प्रार्थना की कि मैं प्रकाश देखना चाहता हूँ, उसको वह युक्ति बतादी, किसी ने समाधी के विषय में प्रार्थना की उसको वैसी राह बता दी किसी ने शब्द सुनने की उमंग प्रकट की उसको वही मार्ग बता दिया, किसी ने सुरत चढ़ाने की युक्ति पूछी उसको वही बात सिखा दी। तात्पर्य कि प्रत्येक से पूछ-पूछ कर उसकी इच्छानुसार बतला देते थे। जब सबसे पूछ चुके तो एक सत्संगी छिपा हुआ कोने में बैठा था उसकी ओर दृष्टि की और फ़रमाया कि कहिये साहिब आपका क्या ख़्याल है। उसने यह रुबाई अर्थात् कविता पढ़ी:—

शेर—न जाहो जलाल किबरिया भी ख़वाहैम, नै दर्दे तुराहेच दवा भी खवाहैम।
हर कस ज़ेदरे तो मतलबे भीख़वाहद, माख़सता दिलों अज़ तो तुराभीख़वाहैम।।

अर्थ—हम न तेज, ऐश्वर्य न पदवी न दुख दर्द की औषधि तुझसे माँगते हैं—प्रत्येक मनुष्य अपनी इच्छा पूर्त्ति के लिये तुझसे कुछ न कुछ मांगता है हम घायल दिल वाले तुझसे तुझको ही माँगते हैं। आप यह सुन कर मुसकराये और फ़रमाया कि अच्छी बात है।

(३७) एक रोज़ इर्शाद हुआ कि किसी स्त्री ने अपने घर का कूड़ा झाड़ कर बाहिर फैंकते समय कहा कि कृष्णार्पण। कहीं उधर से नारद जी महाराज जा रहे थे। स्त्री का यह कहना सुन अपने स्वामी का अपमान न सह सके। एक चांटा उस स्त्री के मुँह पर ज़ोर से मारा। उस ग़रीब ने थप्पड़ खा कर भी यही कहा कि यह भी कृष्णार्पण। जब नारद जी बैकुण्ठपुरी में पहुँचे तो क्या देखते हैं कि सम्पूर्ण देवता उनकी निन्दा कर रहे थे कि नारद ने बड़ा खोटा काम किया जो उस स्त्री के चांटा मारा, वो थप्पड़ तो

कृष्ण महाराज जी के लगा है। यह सुनकर तो नारद जी के होश उड़ गये और श्री कृष्ण जी महाराज के चरणों में सिर रख कर क्षमा मांगी उन्होंने कहा कि नारद जी आपने हमारा तो कोई अपराध किया नहीं यदि चांटा मारा तो उस देवी को मारा, फिर हम से किस बात की क्षमा चाहते हो, यदि क्षमा मांगनी है तो उस देवी से ही जाकर मांगो, नारद जी यह सुनकर उस भक्त देवी के पास दौड़े आये और बहुत नम्रता से क्षमा की याचना की, तो उसने उत्तर दिया कि यह भी कृष्णार्पण। जब नारद जी क्षमा माँग कर बैकुण्ठ लौट कर गये तो क्या देखते हैं कि उनकी क्षमा का भाव और थप्पड़ मारने का दोष दोनों मूर्त्तिमान होकर श्रीकृष्ण जी के सम्मुख खड़े होकर कह रहे हैं कि महाराज अब हमको बताइये कि हम कहाँ जायें। श्रीकृष्ण महाराज जी ने उत्तर दिया कि अब तुमको और कहाँ स्थान बताऊँ तुम भी मुझ में ही समाजाओ। यह सुनकर वह दोनों रूप उन्हीं में समा गये।

(३८) एक रोज़ इर्शाद हुआ कि किसी राज पुरोहित ने वृद्ध अवस्था में विवाह किया। उनकी स्त्री बड़ी दिखावा करने वाली थी। पं० जी को बहुत छलती थी और पतिव्रत धर्म की डींगें हाँका करती थी, राज दरबार में जब कभी बातचीत चलती तो पं० जी अपनी धर्म पत्नी की पतिव्रता की प्रशंसा किया करते थे। एक बार राजा से मिलने गये। राज महल के समीप एक सूखा पीपल का वृक्ष था। राजा ने उसे देख कर पं० जी से कहा कि किसी प्रकार यह हरा भी हो सकता है तो पं० जी ने उत्तर दिया कि हाँ महाराज यदि अमुक मंत्र का एक रात इसके नीचे जाप और हवन कराया जाये और फिर कोई पतिव्रता स्त्री इसमें ठोकर मार दे तो यह हरा हो जायेगा। राजा ने उसी समय ब्राह्मणों को बुला कर जाप और हवन करने का हुकुम दिया और पुरोहित जी से कहा कि महाराज आपकी धर्म पत्नी से बढ़ कर और पतिव्रता स्त्री कहाँ मिलेगी। इसलिये कल प्रातःकाल जाप समाप्त होने पर आप उनको ठोकर मारने के लिये बुला लाइयेगा। पं० जी रात को जब घर लौट कर आये तो सोचा कि स्त्री को वहाँ ले जाने के पहिले परीक्षा कर लेनी चाहिये। कहीं ऐसा न हो कि वहाँ लाखों मनुष्यों में बात बिगड़ जाय। इसी लिये कुछ उदास से होकर बैठ गये। स्त्री ने बार-बार उदासी का कारण पूछा,

परन्तु कुछ प्रकट न किया। अन्त को प्रातःकाल होते-होते बोले कि राजा ने एक ऐसा भारी काम सौंपा है कि जिसका निभाना इस समय असम्भव सा दिखाई देता है और पूर्ण न होने पर प्राण और प्रतिष्ठा आदि के जाने का भय है। जब स्त्री ने बहुत ज़िद करके पूछा तो पं० जी ने कहा कि राजा ने एक ऐसी स्त्री माँगी है जिसने एक सौ एक पुरुष किये हों, अब बताओ ऐसी स्त्री कहाँ से मिले। यह सुन कर स्त्री ने कहा कि इसमें मान प्राण का क्या भय है सौ पुरुष तो मैं कर चुकी हूँ और यह उनकी अंगूठियाँ मेरे पास हैं। अब केवल एक करना और शेष है सो वह अभी कर आती हूँ फिर आपके साथ चलूंगी। फिर आपका मान प्राण बचाऊँगी, यह कह कर स्त्री तो अपने काम को गई और पं० जी का रंग फीका पड़ गया, कारण कि प्रातःकाल हो चुका था और जाप की समाप्ति पर पतिव्रता स्त्री का वहाँ पहुँचना आवश्यक था, इसलिये व्याकुल होकर नंगे सिर और नंगे पाँव सूचना देने के लिये राज दरबार की ओर भागे। मार्ग पर एक स्त्री दरवाजे पर अपनी छातियाँ खोले हुये बच्चे को दूध पिला रही थी, पं० जी की यह दशा देख कर बोली कि महाराज क्या विपत्ति पड़ी है जो ऐसी दशा में भागे चले जाते हो। पं० जी ऐसे घबराये हुये थे कि उसकी बात पर ध्यान ही न दिया। तो स्त्री ने आगे बढ़ कर उनकी कोहनी पकड़ कर कहा कि महाराज सुनो तो सही कुछ कहो भी क्या समाचार है। पं० जी बोले कि परदे वालियो की तो यह गति है तो तू बीच बाज़ार में खड़ी है तुझसे क्या कहूँ। जब उसने फिर पूछा तो उन्होंने कहा कि एक पतिव्रता स्त्री की आवश्यकता है बता कहाँ मिलेगी। स्त्री ने कहा चलो कहाँ ले चलते हो मैं तुम्हारे साथ चलती हूँ पं० जी उसकी सज-धज देख कर चकित हुये, परन्तु "कहरे दरवेश वर जाने दरवेश" बोले कि अच्छा चल। राज दरबार में बहुत लोग पं० जी की राह देख रहे थे, जब उस स्त्री को उनके साथ देखा तो सब हँसने लगे, पूजा समाप्त होने पर स्त्री ने उनके कहने के अनुसार पीपल में लात मारी तो वह सब वृक्ष हरा हो गया केवल एक शाखा सूखी रह गई। राजा ने उस स्त्री से इस शाखा का सूखा रह जाने का कारण पूछा उसने कहा महाराज एक दिन मैं लेटी हुई इस बालक को पेट पर बिठा कर खिला रही थी कि इसने मूत्र कर दिया और

वह थोड़ा सा मेरी योनि में चला गया इस कारण से यह शाखा सूखी रह गई है क्योंकि यह बालक किसी और का पति होगा मेरा नहीं। इससे दिखावे और वास्तविकता का अन्तर प्रत्यक्ष है। दूसरे जो एक मनुष्य के भरोसे पर रहे और सिवाय उसके अन्य की ओर ध्यान न दे उसको बल और शक्ति इस प्रकार की होती है तो जो व्यक्ति उस एक स्वामी का होकर रहे तो फिर उसका तो कहना ही क्या है। फिर मूत्र जैसी घृणास्पद वस्तु प्रवेश से जब इतनी हानि हुई तो ईश्वर के सिवाय जो कुछ शेष है उसके प्रेम और लगावों को हृदय में स्थान देने से क्या कुछ हानि न होगी।

३९— एक रोज़ इर्शाद हुआ, कि मुन्शी महमूद अलीसिल दिक की बीमारी में फँस गये। यहाँ तक बुरी दशा हो गई कि मल त्याग के लिये चार पाई में छेद करना पड़ा, दीर्घ रोग और उपचार से उकता कर घर के सम्बन्धी तंग हो गये और वह स्वयं भी जीवन से निराश हो गये, साँस लेना भी कठिन हो गया तो आपने अपने पिता से विनय की कि आप तो उपचार इत्यादि, औषधि यन्त्र मन्त्र साधु महात्मा गुरु पीर आदि सब मना चुके अब मुझको दरवाज़े से बाहर चारपाई पर डाल दो ताकि हवा भी खुली लगे और आने जाने वालों की शकल भी दिखाई दे। उन्होंने ऐसा ही कर दिया, वह बाहर अकेले पड़े थे कि एक सन्यासी उधर से आ निकले, उनको देख कर मुन्शी सा: ने नमस्कार किया और कहने लगे कि बाबा जी ईश्वर के सिवाय और किसी पर भरोसा नहीं है, आप लोग भी ईश्वर के विशेष प्यारों में से हैं, कुछ मेरी दीन अवस्था पर भी ध्यान दें बड़ी दया होगी। यह सुन कर सन्यासी महात्मा वहाँ खड़े हो गये, वहाँ कुछ गन्ने पड़े हुए थे उनमें से एक गन्ना उठाकर बीच में से तोड़ डाला और अपनी झोली में से कुछ औषधि ज़रासी निकाल कर उस पर डाल दी और कहा कि इसको चूस लो, वह तो औषधि दे कर चलते बने और रोगी ने गन्ना चूसना प्रारम्भ किया, उसके चूसते ही अवस्था और की और हो गई। और दो चार घण्टों में ही रोग के सब लक्षण दूर हो गये। कुछ समय पाकर दुर्बलता भी जाती रही। वरन् पहिले से भी अधिक स्वस्थ और हृष्ट पुष्ट हो गये। फिर हर प्रकार से सन्यासी जी की खोज की, परन्तु कहीं पता न चला। इस प्रकार

मनुष्य जब सब ओर से निराश होकर उस प्रभु की ओर लग जाता है तो उस प्रभु को अपने आप चिन्ता करनी पड़ती है और कोई न कोई युक्ति काम होने की निकाल लेता है।

४०—एक रोज़ इर्शाद हुआ, कि श्री रामचन्द्र जी महाराज का यथायोग बरताव में बड़ा उत्तम विचार था इसलिये उनको मर्यादा पुरुषोत्तम कहा गया है। चींटी को चींटी की भाँति और हाथी को हाथी के समान मानते थे। जब बाली को मारा तो राज सुग्रीव को दे दिया, परन्तु साथ ही युवराज अङ्गद को बनाया अर्थात् विचार किया कि राज बाली का था इसलिये इसके पश्चात् उसके पुत्र का ही अधिकार होता है। हमने सुग्रीव को विशेष रूप से दीन व मित्र ज्ञान कर राज्य दिला दिया, परन्तु उसकी सन्तान का कोई अधिकार न रखा। केवल उसके जीवन काल तक ही उसका अधिकार रखा। इसी प्रकार लंका पर विजय प्राप्त कर जब राजसिंहासन पर बैठे तो सबको उसकी पदवी के अनुसार पुरस्कार आदि और विशेष वस्तुयें प्रदान कीं। परन्तु हनुमान जी को ऐसी कोई वस्तु न दी क्योंकि वह जानते थे कि इसको केवल हमारे से ही स्नेह और प्रेम है।

४१—एक रोज़ इर्शाद हुआ, कि—तुलसीकृत रामायण में वैसे तो कर्म, उपासना, भक्ति, ज्ञान सभी का वर्णन है। वास्तव में आरम्भ से अन्त तक यह पुस्तक विरह वियोग के दुखों के वृतान्तों से भरी हुई है। श्री पार्वती जी का श्री महादेव जी के वियोग में तप करना और श्रीमहादेव जी का विवाह से सहमत न होना, श्री रामचन्द्र का बनवास, लक्ष्मण जी का उनके साथ जाने के लिये अनुरोध और व्याकुलता, और महाराज दशरथ जी की मृत्यु, माताओं का वियोग, भरत जी का विरह, श्री रामचन्द्र जी का बन में रहना और श्री सीता जी का हरण, श्री रामचन्द्र जी का उनके वियोग में दुःख करना, श्री लक्ष्मण जी के शक्ति लगते समय श्री रामचन्द्र जी का विलाप इत्यादि। यह सब वृतान्त वियोग की पीड़ा को बढ़ाने वाले और विरह उत्पन्न करने और भड़काने वाले हैं। इसी प्रकार से श्रीमद्भागवत् विशेष कर दसम स्कन्ध में प्रेम, पीड़ा, स्नेह का पूरा-पूरा चित्र उतारा हुआ है।

श्री कृष्णचन्द्र जी की लीलायें नन्द यशोदा के लाड़-चाव और गोपी ग्वालों का प्रेम, श्री कृष्णजी महाराज के मथुरा पधारते समय गोपियों की प्रेम दशा और ऊधो जी के सन्देशा ले जाने पर गोपियों का विरह व्यथा अर्थात् यह ग्रंथ प्रेम की जीवित कहानी और स्नेह का भण्डार है। योग वशिष्ठ में विशेष कर निरहंकारिता और संकल्पों से रहित होने का वृतान्त वर्णन किया गया है। "न मैं हूँ न यह संसार है" अर्थात् इसी प्रकार के वृतान्तों से श्री वशिष्ठ जी महाराज ने अहंभाव से रहित होने की व्याख्या की है। वेदान्त में अपने स्वरूप को पहिचानना और आत्मतत्व जानने पर बहुत बल दिया है। ये संसार भ्रम से उत्पन्न हुआ है, ये सब कुछ तेरा भ्रम ही है, तू अपने आपको पहचान, जब तूने अपने आपको पहचान लिया तो ब्रह्म को जान लिया। जो सच्चिदानन्द तेरा स्वरूप है, वही ब्रह्म का स्वरूप है तुझमें और ब्रह्म में कुछ भेद नहीं, जो भेद भासता है वह तेरे भ्रम से भासता है, परन्तु श्री भगवत् गीता में उपरोक्त-सम्पूर्ण वृतान्त विरह, व्यथा स्नेह, प्रेम पीड़ा, अहंभाव तथा संकल्पों से रहित, खुद शनासी खुदा शनासी अर्थात् अपने और ईश्वर के स्वरूप को पहिचानना इत्यादि का इस प्रकार सुन्दर तथा रोचक रीति से वर्णन करके युक्त व्यवहार अर्थात् ऐसे हाल पर ज़ोर दिया है कि खाना, पीना, सोना, जागना, भजन, सांसारिक व्यवहार आदि सबको युक्ति से वर्तना चाहिये। किसी काम की न्यूनता अत्यधिकता उचित नहीं। लड़ाई, झगड़ा, गुरु और बड़ों के साथ संग्राम जो कि अन्य शास्त्रों में वर्जित है उसको भी श्री कृष्णचन्द्र महाराज जी ने आवश्यतानुसार युक्ति पूर्वक उचित रखा है, न्याय सिद्ध माना है। महाराजा जनक जी, वशिष्ठ जी, व्यास जी, और कबीर जी का भी यही सिद्धान्त था।

"गिरह बान्ध के रहे उदासी, कहे कबीर हम बाके दासी।
कह कबीर कुछ उद्धम कीजे, आप खाये औरों को दीजे॥"

४२—एक रोज़ इर्शाद हुआ, कि शेख चिल्ली बाज़ार से तेल खरीदने गये, जब तेल ले लिया तो बनिये से कहा कि "रूख" भी दे, पैंदीदार बर्तन तेल से मुंह तक भर गया था। बनिये ने कहा कि बर्तन में नहीं समा सकता है, रूख का तेल किस में लोगे। शेख चिल्ली ने बर्तन को उलट कर

पैंदी ऊपर को कर दी कि रूख का तेल इसमें डाल दे। तेल जो लिया था वह तो फैल गया रूख का तेल लेकर घर पहुँचे और प्रसन्न होकर कहने लगे कि देखो ये तो रुख का तेल हम लाये हैं और दूसरी तरफ असली खरीदा हुआ है। यह कह कर बर्तन को सीधा कर दिया। पैंदी में जो तेल था वह भी गिर गया। सब तेल गवां कर खाली हाथ रह गया। जो लोग विचार और ज्ञान के बिना लोक परलोकों के रसादि स्वादिष्ठ पदार्थों को त्याग करके मुक्ति तथा भगवत् प्राप्ति की इच्छा करते हैं इनकी भी ऐसी अवस्था समझनी चाहिये।

"दिल चाहे दिलदार को, तन चाहे आराम।
दुबिधा में दोनों गये, माया मिली न राम॥

४३—एक रोज़ इर्शाद हुआ, कि प्रायः कई मनुष्यों का विचार है कि महात्मा, अवतार, महापुरुष, सन्त जो कुछ बुरा भला करते हैं, या शाप आशीर्वाद देते हैं वह सब ईश्वरीय इच्छानुसार होता है। वह लोग केवल बहाना मात्र होते हैं और साधारण मनुष्य जो कुछ अच्छाई बुराई करते हैं, उसके वही उत्तर दाता हैं। प्रत्येक के विचारानुसार इस बात का प्रभाव और परिणाम निसन्देह भिन्न-भिन्न होता है। हमारा विचार ऐसा है कि क्या अवतार क्या महात्मा और साधारण मनुष्य, मनुष्य ही नहीं पशु पक्षी तक सभी जो कुछ करते हैं ईश्वर की इच्छानुसार ही करते हैं।

शेर—हर कसे-रा बहर कारे साख़तन्द।
मेल ओ अन्दर दिल्श अन्दाख़तन्द॥

अर्थ—प्रत्येक मनुष्य को ईश्वर ने अलग काम के लिये बनाया है। उस काम का सुझाव उसके अन्दर डाल दिया है। जब वह सर्व शक्तिवान है तो उसकी शक्ति के विरुद्ध काम करने की किसकी क्या शक्ति है। उसके कार्य और उसके परिणाम को अपने में मान लेना या न मानना मनुष्य की अध्यात्मिक उन्नति पर निर्भर है। यह कोई कथन मात्र नहीं है, वरन अध्यात्मिक उन्नति का स्थान है, जहाँ पर पहुँच कर मनुष्य को अपने आप पता लग जाता है कि यह समस्त घटनायें एक ही शक्ति के आधीन हैं। यदि

कर्म और उसके फल परिणाम की भलाई बुराई की ओर ध्यान दें तो भी अवतार, महात्मा, सन्त और मनुष्य सभी एक ही श्रेणी में रहते हैं। जैसे किसी का वध करने का दण्ड है कि मारने वाला ही मारा जाय। जिस तरह साधारण मनुष्य को वध करने के बदले में मृत्यु दण्ड दिया जाता है उससे अवतार भी मुक्त नहीं हैं, श्रीरामचन्द्र जी महाराज ने बाली को मारा उसका बदला मिलना आवश्यक था। उन्होंने कृष्णावतार धारण किया और बाली व्याध बना अर्थात् वह काम इस जन्म में पूरा हुआ। श्री कृष्ण महाराज ने अर्जुन को लड़ने पर उद्यत करके महाभारत का युद्ध कराया और कौरवों का नाश करवाया तो उनके देखते-देखते ही उनके कुल का भी नाश हो गया और उसी प्रकार परस्पर कट कर मर गये। हज़रत मुहम्मद रसूल खुदा और हज़रत अली ने पंथ की नींव रखने के लिये सहस्रों मनुष्यों का वध उचित समझा तो उनके देखते-देखते नातियों अर्थात् दोहतों का गला काटा गया। दुर्वासा ऋषि ने व्यर्थ ही राजा अम्बरीष को दुख देना चाहा, परिणाम यह हुआ कि उनको पश्चाताप करना पड़ा, इससे प्रत्यक्ष विदित है कि कर्म करने में सब समान हैं। परिणाम सबका एक सा दण्ड आदि हैं तो यह भी सबको समान ही हैं। फिर महात्मा और सन्त सत्य पुरुषों की क्या विशेषता हुई। अब रही कर्मों को ईश्वर अर्पण करना और शरणागत भाव की बात। उससे केवल यह तात्पर्य है कि यदि कोई पुरुष किसी बुरे काम को अपनी ओर से मानता है तो उसके परिणाम का भय और उस कर्म की याद बार २ उसके मन में खटकती है और दुष्कर्मों की याद में व्यर्थ जाता है। उससे कुछ भी प्राप्ति नहीं होती। क्योंकि जो कर्म हो गया वह तो हो गया, जो बाण धनुष से निकल गया वह तो फिर नहीं लौट सकता और परिणाम पर भी मनुष्य को कुछ अधिकार नहीं रहता किन्तु बार २ याद करने से मन में उसका संस्कार पड़ जाता है। यह तो सिद्धान्त की बात है मनुष्य जैसा विचार करता है वैसा ही हो जाता है। इससे बुरे कर्मों के याद करने से उसके बारम्बार होने की सम्भावना होती है इसलिये उनको भूल जाने के लिये ही ईश्वर अर्पणादि—विधियाँ नियत की गई हैं। एक समय वह होता है कि न किसी के अर्पण न किसी की शरण है, किन्तु कर्म में न कुछ बुरा है न भला

है। दृष्टान्त है कि जब राजा युधिष्ठर जुवे में हार कर बनको गये उनके कष्टों को देखकर द्रौपदी जी ने विनय किया कि महाराज ईश्वर के घर यह क्या अन्याय है कि आप जैसे धर्मात्मा पुरुष तो इस संकट में फंस रहे हैं और दुर्योधन जैसे दुराचारी सुख वैभव भोगें। यह सुन कर उन्होंने उत्तर दिया कि आपने धर्म के तत्व को अभी नहीं समझा यदि धर्म को समझ लोगी तो ऐसा कभी न कहोगी। भलाई करते २ मेरा स्वभाव ऐसा हो गया कि भलाई के अतिरिक्त मैं कुछ कर ही नही सकता किन्तु बुराई करने में मुझ को ऐसी कठिनता अनुभव होती है जैसे दुर्योधन को भलाई करने में होती है। बुराई करते २ इसका ऐसा स्वभाव बन गया है कि वह बुराई के बिना और कुछ कर ही नहीं सकता। इसलिये हम दोनों अपने २ स्वभाव के अनुसार काम कर रहे हैं। मुझमें अच्छा काम करने की कोई विशेषता नहीं और न उसे बुराई करने का कोई पाप है। वरन हम दोनों में से जो कोई अपने स्वभाव के विरुद्ध काम करेगा निसन्देह अधर्मी ठहरेगा। इससे विदित होता है कि बुराई भलाई कुछ भी नहीं किन्तु एक विशेष परिणाम प्राप्त करने के लिये मनुष्य भिन्न २ युक्तियों से काम करते हैं। कोई इस प्रकार करता, कोई उस प्रकार से करता है। इसलिये कुछ परिणाम निकालने के लिये सब काम हो रहे हैं इसमें केवल बुराई भलाई इतनी ही है कि जिस बात का अपना मन बुरा मान ले वह बुरी है और जिसको मन बुरा न माने वह समस्त संसार की दृष्टि में भले ही बुरी हो परन्तु उसके लिये बुरी नहीं हो सकती।

४४—एक रोज़ इर्शाद हुआ, कि किसी खुरासानी व्यापारी ने भारत में आनेका निश्चय किया, अपने सब सम्बन्धियों और प्रिय जनों से पूछा कि तुम्हारे लिये वहाँ से क्या सौगात लाऊँ। सब ने अपनी २ रुचि के अनुसार बता दिया। उसके पास एक हिन्दूस्तानी पालतू तोता था उससे पूछा कि मियामिट्ठू हम तुम्हारे देश जा रहे हैं कुछ तुम भी कहो, उसने कहा कि मुझको केवल इतना ही कहना है कि वहाँ जंगल में आपको मुझ जैसे बहुत तोते मिलेंगे, उनसे यह कहना कि हमारे घर एक तुम्हारे देश का तोता है, उसने नमस्कार के उपरान्त यह सन्देश दिया है कि मैं तो परदेश में पिन्जरे में पड़ा सड़ा करूँ और तुम खुशी और आनन्द से ऐसा स्वतन्त्रता पूर्ण जीवन

व्यतीत करो" इसके उत्तर में जो कुछ वह कहें सो मुझसे आकर कह दीजियेगा। व्योपारी खुरासान से चल कर भारत में आया और सब क्रय विक्रय कर चुका और सबके लिये जो सौगातें लेनी थी ले चुके तो उसको तोते की बात याद आई, एक बन में जाकर क्या देखता है कि हरे हरे वृक्षों पर हज़ारो तोते चहचहा रहे हैं, उसने उच्चस्वर से उनको सम्बोधित करके कहा कि भाई हमारे घर जो तोता है उनने नमस्कार के उपरान्त यह सन्देशा भेजा है। उस सन्देशको सुन कर और सब तोते तो चुप हो रहे, परन्तु एक वृद्ध तोता वृक्ष की शाखा पर कांपने लगा और थरथरा कर पृथ्वी पर गिर कर मृतक समान हो गया। व्यापारी यह देखकर चकित हुआ कि इसकी यह दशा कैसे हो गई। सम्भव है यह तोता इसका जोड़ीदार या सम्बन्धी हो उसके शोक से मर गया। व्यापारी विस्मित होकर चला आया और जब खुरासान पहुँचा तो उसके आने की बड़ी खुशी हुई सब ओरसे मुबारिक और सलामतकी ध्वनी गूंजने लगी सबको सौगातें दी गई जब उस तोते की बारी आई तो व्यापारी ने कहा कि भाई तुम्हारी बात का उत्तर तो ऐसा शोक जनक है कि बाणी वर्णन नहीं कर सकती, उसको सुनकर तुमको बहुत दुख होगा। इसलिये उस बात का न कहना ही अच्छा है, परन्तु तोते ने हठ करके पूछा कि आप वचन देकर गये थे उसको अवश्य पूरा कीजिये, विवश होकर व्यापारी ने सब समाचार कह सुनाया और उस वृद्ध तोते के कांपने और गिरने का समाचार कह दिया। यह सुनकर तोता भी उसी प्रकार कांपने लगा और थरथरा कर पिञ्जरे में गिर कर मर गया। व्यापारी को यह देख कर बहुत दुख हुआ विचार किया कि इसमें और उस बूढ़े तोते में कोई विशेष सम्बन्ध था इसी कारण ये दोनों मर गये हैं। निदान उस तोते को पिञ्जरे से निकाल कर बाहिर डाल दिया। बाहर डालते ही वह तोता फर से उड़ कर सामने दीवार पर जा बैठा और बोला साहिब सलाम, मैंने छुटकारा पाया अब अपने देश को जाता हूँ। व्यापारी को यह देख कर बड़ा आश्चर्य हुआ और पूछा कि मियांमिट्ठू ज़रा समझाते तो जाओ कि यह क्या बात थी। तोते ने उत्तर दिया कि क्या यह बात अभी तक आपकी समझ में नहीं आई। भारतीय बूढ़े तोते ने यह सलाह दी थी की जब तक मीठे २ शब्द बोलते रहोगे कदाचित् छुटकारा न हो

सकेगा। छुटकारा पाने का यही उपाय है कि जीते जी ही मर जाओ यहाँ से मृत्यु के बिना छुटकारा न हो सकेगा सो उसकी शिक्षा सम्मति का उपयोग किया है तो अब छुटकारा पाया है, स्वतन्त्र हूँ और अपने स्वदेश की ओर उड़ चला हूँ।

बमीर ऐ दोस्त ग़रख्वाही रिहाई, के बेमुर्दन न याबी आशनाई।

(४५) एक रोज़ इर्शाद हुआ कि एक विद्यार्थी विद्यालय में बहुत देर करके पहुँचा। अध्यापक जी ने देरी का कारण पूछा तो लड़के ने उत्तर दिया कि वर्षा के कारण मार्ग में बहुत कीचड़ हो रही है मैं एक क़दम आगे को बढ़ाता था तो दो क़दम पीछे को हठते थे बड़ी कठिनता से अब विद्यालय तक पहुँचा हूँ। अध्यापक जी ने कहा कि जब दो कदम पीछे को हटते थे तो विद्यालय किस तरह पहुँचना हो सका। विद्यार्थी ने कहा कि श्रीमान जी मैंने घर की ओर मुँह और विद्यालय की ओर पीठ कर ली थी तब एक-एक पग करके विद्यालय तक पहुँचा हूँ। इसी प्रकार मनुष्य यदि संसार से डर कर न भागे किन्तु उसकी ओर मुँह करके खड़ा हो जाय तब भी घटनाओं और वाक्यात अर्थात् परस्थितियों का अनुभव धीरे-धीरे ईश्वर तक पहुँचा ही देगा।

(४६) एक रोज़ इर्शाद हुआ, कि जनाब सय्यद हिदायत अलीशाह साहिब चिश्ती मुरादाबादी से एक शेख साहिब ने पूछा कि मूर्ति पूजा हिन्दुओं में क्यों उचित है और मुसलमानों में क्यों अनुचित है, तो उन्होंने उत्तर दिया कि उचित अनुचित का तो हमको पता नहीं, परन्तु कोई मज़हब, मतमतान्तर, सम्प्रदाय, सोसायटी ऐसी दिखाई नहीं दी जिसमें मूर्ति पूजा न होती हो। हिन्दुओं में तीर्थ जाते हैं तो मुसलमानों में हज करते हैं, हिन्दू मन्दिरों की परिक्रमा लेते हैं तो मुसलमान काबों की परिक्रमा लेते हैं। हिन्दू मूर्त्तियों के सामने शीश झुकाते हैं तो मुसलमान संग असवद को चूमते हैं, हिन्दू गंगा जल भर कर लाते हैं तो मुसलमान आबे ज़म ज़म लाते हैं, हिन्दू श्राद्ध करते हैं तो मुसलमान मुहरम में ताजीयेदारी करते और नियाज़ दिलवाते हैं। यह मन्दिर में दीपक जलाते हैं वह मसजिद में दिया जलाते हैं। यह समाधि पर प्रकाश करते हैं वह कब्रों में चिराग चढ़ाते हैं। किन्तु सरहदी स्थानों में तो ऐसा देखा गया है कि जिस प्रकार हिन्दू फाल्गुन में होली जलाते हैं उसी

प्रकार मुसलमान भी शबरात के दिन कूड़ा करकट जमा करके आग लगाते हैं। सारांश, कोई ऐसी बात नहीं जिसमें हिन्दुओं को मूर्त्ति पूजक माना जाय और मुसलमानों को मूर्त्ति पूजक न माना जाय। यदि इन रीति रिवाजों को छोड़ कर और अधिक विचार करें तो वाज, फ़कीर महात्माओं ने अर्थात् गुरु का ध्यान आदि युक्तियाँ चलाई हैं। कई हज़रत रसूल को मानते हैं, और कई अली के मानने वाले हैं, कोई हुसैन के प्रेमी हैं। यदि इन सब बातों को छोड़ कर ईश्वर का विचार किया जाय तो उसका भी तेजस्वी और सौन्दर्य पूर्ण कोई न कोई रूप अवश्य मानना पड़ेगा। फिर यह भी मूर्त्ति पूजा नहीं तो और क्या हुई हाँ इतना अन्तर अवश्य हो सकता है कि किसी की मूर्त्ति धातु पाषाण आदि की और किसी की मनोभाव से रचित, परन्तु हैं सब मूर्त्ति पूजा और इसके बिना काम भी नहीं चलता वरन् हमारा तो ऐसा विचार है कि मूर्त्ति पूजा ही सीधा मार्ग है, परन्तु अपना-अपना मार्ग सबको अच्छा मालूम होता है। मुसलमान संग असवद को पवित्र और हिन्दुओं की प्रतिमाओं को बुत कहते हैं। इसी प्रकार हिन्दू अपनी मूर्त्तियों को पवित्र और मुसलमानों के पत्थरों को अपवित्र कहते हैं, परन्तु हैं दोनों पक्के मूर्त्ति पूजक और यह दोनों ही नहीं वरम् सारा संसार ही मूर्त्ति पूजक हैं किसी ने स्त्री को, किसी ने धन को, किसी ने मान को मूर्त्ति-मान रखा है, मूर्त्ति पूजा से रहित कोई नहीं है।

(४७) एक रोज इर्शाद हुआ कि दो चूर्ण बेचने वाले बाजार के बीच खड़े हुये लटके कह रहे थे और एक दूसरे को चैबोलों में फबती हुई कहता था उनके चारों ओर सैंकड़ों तमाशा देखने वालों की भीड़ थी और उनकी नोक-झोंक का तमाशा देख रहे थे। चूर्ण वाले समय-समय पर अपने चूर्ण की प्रशंसा और लोगों की कमजोरियों और बीमारियों को चौबोलों में इस प्रकार कह रहे थे कि कुछ लोग शर्मा-शर्मी और कुछ लोग आवश्यकतानुसार थोड़ा बहुत चूर्ण उनसे अवश्य मोल लेते थे। चूर्ण वालों के बोलने के ढंग से ऐसा मालूम होता था कि एक दूसरे के विरोधी हैं वास्तव में यह बात नहीं थी उन्होंने तो लोगों को अपनीं ओर आकर्षण करने और अपना चूर्ण बेचने के लिये यह ढोंग बना रखा था। इसी प्रकार दूसरे मतों के संचालक जो दूसरों के मत का खण्डन करते हैं। इससे प्रथम तो यह तात्पर्य है कि वास्तविकता

का प्रचार भली प्रकार से हो क्योंकि जब कोई अपने इष्ट की निन्दा सुनता है तो अच्छी प्रकार विशेष करके दृढ़ता के लिये अपने इष्ट की ओर लगता है और सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों को ढूँढ़ता और सीखता है, जिससे अपने इष्ट में दृढ़ता प्राप्त हो। जब एक ओर दृढ़ होकर मन ठहर गया और उसकी वृत्ति उस ओर लग गई तो फिर वह स्वयं मार्ग दर्शा देती है। जैसे बहता पानी स्वयं अपना मार्ग ढूँढ कर नदी में जा मिलता है, दूसरे जिज्ञासु का एक ओर निश्चय लगाने के लिये दूसरे की निन्दा कर देते हैं जैसे जब कर्म की महिमा कहें तो कर्म ही को सबसे बड़ा कहना पड़ता है यदि ऐसा न किया जाय तो कर्म में रुचि किस प्रकार हो। इसी प्रकार भक्ति ज्ञान उपासना के विषय में समझना चाहिये जैसे कि देखो जिस समय पैरों से कार्य होता हो तो पैरों की ही प्रशंसा की जाती है। नाक, कान, जिह्वा, आँख, यदि पाँव से ऊपर हैं और अधिक काम देने वाले हैं उनकी प्रशंसा नहीं की जाती, परन्तु कान, नाक, आदि को तोड़ फोड़ तो नहीं डालते केवल समझाने के लिये पांव का महत्व वर्णन करते समय उनकी न्यूनता प्रकट कर जाते हैं और उस समय इसकी आवश्यकता भी प्रतीत होती है क्योंकि यदि ऐसा न करें तो आज-कल के हुल्लड़ में ऐसी खिचड़ी पक जाय कि दाल-चावल का पता तक न चले। मतमतान्तरों का अपने सिद्धान्तों पर स्थिर रहना कठिन हो जाय, केवल दुःख देने और दिल दुखाने के विचार से किसी की निन्दा करना वास्तव में ईश्वर की निन्दा करना है, क्योंकि सब सम्प्रदाय उसी की ओर से हैं और सम्पूर्ण रीति से और भली प्रकार सच्चाई से भरे हुये हैं।

(४८) एक रोज इर्शाद हुआ कि हिन्दू अधिकतर यही कहते हैं कि मुसलमान फ़कीरों से उनको लाभ नहीं पहुँच सकता, इसी प्रकार मुसलमान कहते हैं कि हिन्दू महात्माओं से उपदेश नहीं लेना चाहिये उनसे कुछ लाभ की प्राप्ति नहीं हो सकती, परन्तु बात यह है कि कालेजों और स्कूलों में विद्यार्थी चाहे हिन्दू हों चाहे मुसलमान हों, हिन्दू अध्यापक से संस्कृत पढ़ कर परीक्षा पास कर उत्तीर्ण-पत्र प्राप्त कर लेता है और इसी प्रकार मुसलमान मौलवी से फ़ारसी पढ़ कर भी हिन्दू को उत्तीर्ण-पत्र मिल सकता है। जब कालेजों और स्कूलों में हिन्दू-मुसलमान का अन्तर नहीं होता तो क्या ईश्वर

प्राप्ति की विद्या में हिन्दु मुसलमान का अन्तर हो सकता है ? और हिन्दुओं को मुसलमान फकीरों से और मुसलमानों को हिन्दू महात्माओं से क्यों न लाभ प्राप्त हो ?

४६ — एक रोज़ इर्शाद हुआ कि,

शेर—ज़िकर गंज अस्तो गंज पिन्हां बह ।
दार ईं गंजे ज़िकर पिनहां बह ॥

अर्थ—ईश्वर का भजन ही भण्डार है अर्थात् कोष है ।

दोहा—नाम ख़ज़ाना गुप्त रख, इसका भेद न खोल ।
हृदय माहिं रख इसे, मुख से कुछ न बोल ॥

इस जगह ज़िकर शब्द का तात्पर्य ब्रह्म विद्या से है यह कोई बाहिर की रटना नहीं है, परन्तु इस साधन से जो प्राप्त होता है उससे तात्पर्य है । जिसको गुप्त रखना उचित और लाभदायक है, क्योंकि उसको प्रकट करने से दूसरे उसे समझ नहीं सकते, किन्तु कई एक तो केवल शब्द जाल में ही फंस कर रह जाते हैं । जैसे आज कल के वाचक ब्रह्म ज्ञानी कई एक उसको निरर्थक और मिथया (कपोल कल्पित) समझ कर कहने वाले के पीछे पड़ जाते हैं । जैसे शाह मनसूर और शमसतबरेज़ के पीछे पड़ गये थे । मुसलमानी मत में जो अद्वैत उपदेश की मनाई है वह भी इसी नियमानुसार है, वरन इसका परिणाम बहुत ही अच्छा रहा है । देखो हिन्दुओं में इसकी मनाई नहीं है । जिधर देखो अहं ब्रह्म ही दीखता है, परन्तु उनकी परीक्षा ली जाये और जिस कसौटी पर शाह मनसूर को कसा था उस पर उनको कसा जाये तो लाखों में एक तो क्या करोड़ों में से कोई एक भी कठिनता से पूरा उतरेगा, क्योंकि मुसलमानों में इसकी मनाही है । इसलिये उसमें वाचक कम होते हैं वरन जो निकलता है पहूँचा हुआ अर्थात् अनुभवी होता है । यदि वर्तमान समय न होता और काज़ी मुल्ला की चलती होती तो देखते कि अब भी हज़रत शामसतबरेज़ की भाँति सबको परख २ कर छोड़ते । उस समय यह दशा न होती "कि तुम्हारा माल सो हमारा माल और हमारा माल सो हाँ हाँ हाँ" वेदान्त बन कर हर प्रकार बुरे भले कर्मों में प्रवृत हो जाना और वास्तविकता का पता तक न चलना बिना ब्रह्म दर्शी किसी और को ऐसी बात

कहने का साहस न होता किन्तु मन ही मन में इस पाठ को भले ही याद करते और इससे मार्ग भ्रष्ट होता तो केवल याद करने वाला, और लाभ होता तो भी उसी को होता।

(५०) एक रोज़ ईर्शाद हुआ, कि जब मनसूर ने अनलहक अर्थात् अहं ब्रह्मास्मि कहा और मौलवियों ने उसे पत्थरों से मारने की आज्ञा दी तो सब लोगों ने उनको शरीयत अर्थात् म । के नियमानुसार उनको पत्थर मारने आरम्भ किये। शेख शिबली सा० भी उस समूह में सम्मिलत थे, सोचने लगे कि इस मनुष्य का भेद तो इन लोगों को मालूम नहीं है और न इसकी अवस्था का पता है। यह अपनी पुस्तकों के गोरख धन्धे में फँसे हुए हैं। जिस पर शरीयत का हुक्म हो उस पर हरएक का कर्तव्य है कि पत्थर मारे, इसलिये शिबली साहिब ने पत्थर के बजाये एक फूल उठा कर मनसूर को मारा। फूल लगते ही मनसूर बड़े जोर से रोया, शिबली सा० ने पास जाकर पूछा कि इतने पत्थर लगते हैं तो तुमको कष्ट नहीं होता और मेरे फूल से ऐसी चोट लगी। उसने उत्तर दिया कि—

शेर—पत्थर अहमक़ां दें फूल आशकां नूं; फुलायार दे पत्थर दी सट जिवें।
बोली ग़ैर दी आख दे—आम बोली, ते शरीक दी बोली दा फट जिवें॥

इन लोगों के पत्थरों का तो मेरे शरीर पर कुछ भी असर नहीं होता क्योंकि यह तो अनजान हैं, परन्तु आप तो इस भेद को जानते हैं, यही कारण है कि आपके फूल ने गहरी चोट पहुँचाई। सारांश यह है कि जो मनुष्य इस रहस्य को न समझता हो उससे जो भूल हो उसका दुःख नहीं होता, परन्तु जो मनुष्य भेदी हो वह यदि इस विषय में भूल करे तो शोक की बात है।

५१—एक रोज़ इर्शाद हुआ कि कि किसी स्थान पर एक स्त्री अपने पति के मृतक शरीर के साथसती होने को चली। जब चिता पर जाकर बैठी तो ऐसे ज़ोर से आँधी झक्कड़ आया कि धूल मिट्टी से अन्धकार छा गया। जो मनुष्य मुरदे के साथ थे चिता छोड़कर लौट गये जब आग भड़की तो स्त्री का दिल भी हार गया और घबरा कर चिता से उत्तर आई और

अन्धेरे में जंगल की ओर भाग गई। दूसरे दिन लोगों ने जाकर भस्म इकट्ठी करके सती चौरा बना लिया, और उसकी पूजा होने लगी। लोगों की मनो-कामना और वांछा भी पूरी होती थीं। वह स्त्री किसी दूसरे शहर में जाकर किसी और आदमी के साथ बैठ गई। वहाँ उसके दो पुत्र भी उत्पन्न हुए। जहाँ उसका पहिला पति रहता था, उस गाँव का कोई आदमी अचानक वहाँ जा निकला और उस स्त्री को पहचान लिया और उसका समाचार पूछा तो उसने सब सच्चा वृतान्त सुना दिया। जब उस मनुष्य ने लौट कर सब हाल उस स्त्री के चिता से भाग जाने का लोगों को सुना दिया और आदमी भी उसको जाकर देख आये। उस दिन से उस सती चौरे की पूजा बन्द हो गई। अब विचारने की बात है कि वहाँ सती तो कोई हुई नहीं, परन्तु लोगों की इच्छा पूर्ण होती थी। सारांश कि सबसे बड़ा देवता और सबसे बड़ा गुरु अपना विश्वास है। सब कामनाओं को पूरा करने वाला और सब फलों का देने वाला यही देवता है। जिसमें यह विश्वास नहीं, उसका कोई काम सिद्ध नहीं होता।

दोहा—ईंगुर सैंदूर लेप के त्रृया पूजत भीत।
सुफल होय मन कामना, तूलसी प्रेम प्रतीत॥

५२—एक रोज़ इर्शाद हुआ, कि एक सांप और एक मेंढक में इस बात की बहस हुई, सांप कहता था कि मैं बड़ा ज़हरीला जानवर हूँ, जिसको काट लेता हूँ तुरन्त ही मर जाता है और मेंढ़क कहता था कि बात इस प्रकार नहीं है, अधिकतर अपने भय से भी मृत्यु हो जाती है, अन्त को यह निर्णय हुआ कि इस बात की परीक्षा करनी चाहिये। रात के समय सांप ने एक मनुष्य को काटा, और काट कर छुप गया, और उस स्थान पर मेंढ़क आ उपस्थित हुआ, वह मनुष्य चिल्लाया कि दीपक लाना मुझको किसी ने काट लिया है, जब दीपक लाकर देखा तो मेंढक बैठा था। सबने हंस कर टाल दिया कि वाह भाई मेंढक के काटने से गला फाड़ कर चिल्ला उठे। बस बात आई गई हुई उस मनुष्य पर कुछ भी असर न हुआ। फिर मेंढक ने एक मनुष्य को देखा और काट कर छुप गया, उसके स्थान पर सांप आ बैठा। वह मनुष्य चिल्लाया कि दीपक लाओ मुझे किसी ने काट लिया है दीपक

जला कर देखा तो सांप है, डर के मारे उस मनुष्य के होश उड़ गये और इन्द्रियाँ शिथिल हो गईं, बेसुध सा होकर बिछोने पर जा पड़ा कि मुझ को सांप ने काट लिया है अब नहीं बचूँगा। और थोड़े समय में मारे डर के मर गया। इस बात पर एक सतसंगी ने पूछा कि श्रीमहाराज जी सांप के विष का प्रभाव कहाँ चला गया तब आपने फ़रमाया कि मिसमरेज़म अर्थात् हिपनोटिज़म और झाड़ फूक से जो सांप के काटे हुए अच्छे हो जाते हैं तब उस समय विष का असर कहाँ चला जाता है जिस प्रकार भाव की शक्ति से उसका प्रभाव मिट जाता है उसी प्रकार इस समय पर भी हुआ है। दोनों सूरतों में उसका प्रभाव ख्याल से ही हुआ और ख्याल से दूर हो सकता है॥

५३—एक रोज़ इर्शाद हुआ, कि एक मनुष्य पागल हो गया और लोगों को मारने काटने लगा तो उसको पागल खाने में ले जाकर कोठरी में बन्द कर दिया उसका एक मित्र उसकी बीमारी का समाचार सुन कर किसी दूसरे स्थान से आया। उसको मिलने और उसको देखने को पागल खाने में चला गया जिस समय पागल ने अपने मित्र को देखा तो धाड़ें मार २ कर रोने लगा अपने दुख की कथा इस प्रकार वर्णन करनी आरम्भ की। कि देखो भाई! अमुक सम्बन्धी ने मेरे साथ कैसी अधिकता की है।धोखा देकर मेरा सब समान और धन सम्पत्ति भी ले ली और मुझको बदनाम और बेइज़त कर दिया और पागल खाने के नोकरों को कुछ दे दिला कर मुझको यहाँ ला डाला है अब मुझको चार दिन से इतना सख़त बुखार चढ़ रहा है कि सिर उठाने तक की शक्ति नहीं यहाँ कोई पानी तक की सुध नहीं लेता, यह कह कर फिर धाड़ें मार २ कर रोने लगा और कहा कि तुम मेरी नाड़ी देखो कैसे ज़ोर का ज्वर है। उसके मित्र को उसकी अवस्था पर बड़ी दया आई और उसकी बात सत्य समझ कर जंगले के अन्दर हाथ डाल कर उसकी नबज़ देखने लगा। अन्दर हाथ डालना था कि फिर क्या था पागल को जोश आगया और कहने लगा कि अबे हरामज़ादे यह क्या हमारे घर में तूने उजड पने से अर्थात् गुस्ताखी से हाथ डाला, और दोनों हाथों से उसका हाथ पकड़ कर चबा डाला। अब तो मित्र महाशय चिल्लाये और हाये तोबा करने लगे सब महकमे वाले जमा हो गये और बड़ी कठिनता से कटहरे के

अन्दर घुस कर उसका हाथ छुड़ाया और उनसे पूछा कि महाशय यह आपने क्या मूर्खता की। उस समय उस ग़रीब ने सब समाचार सुनाया और कहा कि इसने सम्पूर्ण वृत्तान्त ऐसी ख़ूबी और सच्चाई से वर्णन किया कि मुझको निश्चय हो गया कि यह पागल नहीं है, किन्तु इसके साथ अवश्य अन्याय हुआ है इसकी विनय पर मैंने इसकी नब्ज देखने को अन्दर हाथ डाला था, उस समय लोगों ने समझाया कि सालक अर्थात् परम हंस और मज़ज़ूब अर्थात् अवधूत में इतना ही तो अन्तर है कि परम हंस की अवस्था हर समय एक रस रहती है अवधूत कभी ठिकाने की कहता है और जब दीवानगी का दौरा होता है तो बहक उठता है इसकी अवस्था हर समय एक सी नहीं रहती ॥

५४—एक रोज़ इर्शाद हुआ, की पागल खाने में भी विचित्र बातें होती हैं। एक समय कुछ पागल बैठे हुए बातें कर रहे थे कि उनमें से एक बोला कि तुम सब चुप रहो और मेरी बात सुनो जो कुछ मैं कहता हूँ उसको सच मानो क्यों कि मैं 'ईश्वर' का रूप हूँ रसूले ख़ुदा हूँ और पैग़म्बर बन कर अर्थात अवतार बन कर तुम्हारे पास आया हूँ। यह सुन कर दूसरा बोला तुम सब मेरी बात पर ध्यान दो और मुझ ही को मानो और मेरी ही पूजा करो क्यों कि मैं परमात्मा हूँ और मैंने ही इसको रसूल अर्थात अवतार बनाकर तुम्हारे पास भेजा है। यह केवल तुम्हें मार्ग बताने वाला होगा। बात वास्तव में मेरी ही माननी होगी जो कोई मुझसे विमुख होगा उसको मैं दोज़ख अर्थात नरक की आग में जलाऊँगा। तीसरा कुछ इससे भी बढ़कर कहता है और कहें क्यों न? जो अपने आपे से बाहर हो वह जो चाहे कहे उसका कोई क्या कर सकता है॥

५५—एक रोज़ इर्शाद हुआ, कि एक मनुष्य कल्प वृक्ष के नीचे बैठकर यह मनोरथ करने लगा कि ठंडी हवा चले और एक हराभरा बाग हो, उसमें एक निर्मल जल से भरा हुआ सरोवर हो, उसका यह ख्याल करना था कि सब वस्तुयें तत्काल उपस्थित हो गईं फिर उसने संकल्प किया कि संगीत आदि का प्रबन्ध हो और भोग विलास की सामिग्री और सुन्दर स्त्रियाँ भी उपस्थित हों, मनोरथ की देरी थी वह भी उपस्थित हो गईं। वह उनके

साथ भोग विलास में लग गया। फिर झट से उसे विचार हुआ कि ऐसा न हो कि कहीं इन स्त्रियों के स्वामी देख लें और अभी जूते पड़ें। बस कल्पवृक्ष के नीचे इस भाव के उत्पन्न होने की देरी थी कि झट से धड़ा धड़ जूते पड़ने लगे, अब चिल्लाता और बिलबिलाता है कि हाये मैंने कौन से बुरे काम किये थे। जिस कारण ऐसा कठोर दंड मिला, परन्तु वह जूते पड़ने बन्द नहीं हुये बन्द तो तब हों जब वह उनके बन्द होने का विचार करें। बस यही अवस्था नरक और स्वर्ग की है। जैसा मनुष्य विचार करता है वैसा ही प्रत्यक्ष प्रकट होता है॥

५६—एक रोज़ इर्शाद हुआ, कि मनुष्य जब अपना मुख दर्पण में देखता है तो उसका जो प्रति बिम्ब दीखता है वह उससे सर्वथा भिन्न होता है। वह पात्र भी जिसमें प्रतिबिम्ब दीखता है भिन्न है चेतनता के कारण भी उसका और इसका अन्तर स्पष्ट है अर्थात् इसमें और उसमें कोई समानता ही नहीं, परन्तु सम्बन्ध अवश्य है। फिर प्रतिबिम्ब को देख कर जिस समय मनुष्य अपनी मुखाकृति की अच्छाई बुराई पर ध्यान देता है चाहे मुख नहीं दीखता, परन्तु उसके प्रतिबिम्ब से ही प्रत्येक बात का अनुमान लगा लेता है। कभी मूँछ को मरोड़ता है, कभी भौवें सिकोड़ता है, और कभी नाक सिकोड़ता है कभी दाड़ी संवारता है, कभी बाल बनाता है कभी ज़ुल्फें निकालता है, कभी आँखें मिचकाता है, कभी अँगुली नचाता है, गरज़ अनेक प्रकार की चेष्टा करता है, जैसी करता है वैसी ही प्रतिबिम्ब में देखता है, परन्तु उस समय प्रतिबिम्ब का भाव तक उत्पन्न नहीं होता, वरन उन सबको अपने से मानता है अर्थात् यह सब उसी की चेष्टा है। देखा जाय तो अपने मुख की कोई वस्तु दृष्टि नहीं आती, परन्तु प्रतिबिम्ब से सब बातों का सही अनुमान हो जाता है। मान लो यदि कोई आईना खराब हो या किसी और प्रकार का रूप दिखाने वाला हो, जैसे कि किसी २ शीशे में सर्वदा मुख से बड़ा और सुन्दर रूप दृष्टि आता है, किसी में चपटा रूप दीखता है। यदि शीशा बीच में टूटा हुआ हो तो दो भिन्न २ रूप दीखते हैं, इस रूप को देखकर मनुष्य धोखा भी खा सकता है और वास्तविक रूप के विरुद्ध जैसा कि शीशे में दीखता है वैसा ही समझ कर दुखी सुखी भी होता है, यदि भली प्रकार

से देखे या किसी ऐसे शीशे में देखे जिसमें ठीक प्रतिबिम्ब दीखता हो तो वह भ्रम सर्वथा मिट जाता है और व्याकुलता दूर हो जाती है। ऐसे ही जब तक इस बुद्धि रूपी आईने में भिन्न २ रूप दिखाई देने वाली सामिग्री उपस्थित हो तो वास्तविकता का पता नहीं लग सकता, परन्तु जब वह प्रतिकूल सामिग्री हटा दी जाये, और अनुभव रूपी परिमार्जन अर्थात् (जिला से) बुद्धि ऐसी साफ हो जाये जिससे ज्यों का त्यों प्रतिविम्ब दिखाई देने लगे तो फिर धोखा मिट जाता है, यद्यपि प्रतिबिम्ब भिन्न २ पात्रों में दीखता है, परन्तु वह सब अपना ही रूप भासता है, भेद भाव किंचित भी नहीं दीखता, प्रत्युत उसकी चेष्टायें अपने में ही मानी जाती हैं।

५७—एक दिन श्री बाबा रामदास जी ने प्रार्थना की कि जब से श्री महाराज जी ने इस चरण रज सेवक को अपनी शरण में लिया है न तो श्री चरणों में रहने की आज्ञा दी है और न सर्वथा स्वतन्त्र रहने की आज्ञा प्रदान की। प्रत्युत यह जो नवाब साहिब के लड़कों को पढ़ाने की सेवा सुपुर्द की है इससे तो मन बहुत उपराम है, और दिल स्वतन्त्र होने को चाहता है। यह सुन कर श्री महाराज जी ने फ़रमाया कि बाबा साहब और जो चाहो सो लेलो, परन्तु स्वतन्त्रता न मांगना, यह बहुत कठिन बात है इसको लेने का हर एक को साहस नहीं। हमको भी स्वतन्त्र होने की धुन लगी थी, और इसके पीछे बहुत दिन तक भागते रहे, परन्तु आज प्राप्त हुई तो यह स्वतन्त्रता प्राप्त हुई—कि जहाँ कोई बिठाता है वहाँ बैठना पड़ता है जहाँ कोई ले जाना चाहता है वहाँ जाना पड़ता है। जो कोई कुछ खिलाता है वही खाना पड़ता है, अर्थात् हर तरह से दूसरे की इच्छा के अधीन हैं और जब स्वतन्त्रता स्वयं ही स्वतन्त्रता है तो वह किसी को प्राप्त भी कैसे हो, क्योंकि यदि प्राप्त हो तो वह स्वतन्त्रता नहीं कही जा सकती, अपने आपकी इच्छा के अनुसार काम करने का नाम स्वतन्त्रता नहीं है, वरन स्वतन्त्रता वह है जिसमें अपने ऊपर किसी बात की चिन्ता ही न रहे और सब कामों से सर्वदा स्वतन्त्र हो जाये, कोई और ही अपने कामों का कर्ता हो। जब तक इस बात की चाह है कि यह करें और वह न करें तब तक स्वतन्त्रता कहाँ।

चाह गई चिन्ता मिटी, मनुया बे पर वाह।
जाको कछु ना चाहिये, सोई शाहिन शाह॥

यदि इस विषय में आप हमारी सम्मति लेते हैं तो हम चार बातें कहते हैं। प्रथम यह कि सर्वथा अवधूत हो जाओ न खाने की चिन्ता और न पहनने का क्लेश, जैसे श्री दत्तात्रेय जी थे यदि किसी ने दे दिया तो खा लिया नहीं तो हरि इच्छा। द्वितीय, यदि नौकरी करनी है तो उसमें वेतन की चिन्ता न करो चाहे सौ रु० महीना मिले चाहे एक रु० महीना मिले, केवल काम करने को अपना कर्तव्य समझलो क्योंकि यदि वेतन की न्यूनाधिकता या मिलने न मिलने के कारण नौकरी छोड़ते हो तो बताओ कि नौकरी छोड़ देने पर आपको कहाँ से वेतन मिलेगा, फिर जिन खर्चों और इच्छाओं से विवश होकर नौकरी छोड़ते हो, फिर उनके पूरा होने का समान एकत्रित कहाँ से होगा। अन्त में कहीं और नौकरी करनी होगी, फिर इससे यहीं क्या बुरी है यदि तुमने अपनी इच्छाओं को अपने वश में कर लिया है और बिना रु० पैसे के काम चला सकते हो तो फिर वेतन की चिन्ता व्यर्थ है, मिले तो वाह-वाह न मिले तो वाह-वाह! क्योंकि फकीरी में भी कोई वेतन तो नहीं मिलेगा। बिना वेतन के ही जीवन निर्वाह करना होगा, फिर इस बिना वेतन के नौकरी को ही फ़कीरी समझ लो। जैसा फटा पुराना कपड़ा मिल जाय पहनो, यदि जो कोई टोके तो उत्तर दो कि जैसा ईश्वर से मिलता है वैसा पहन लेते हैं। यदि इससे अच्छा पहनाना चाहते हो तो इससे अच्छा पहना दो। और वेतन आदि के न मिलने के कारण या किसी और कष्ट से नौकरी छोड़ना इस बात को प्रकट करता है कि या तो रु० का बन्धन है या किसी और बात की स्वतन्त्रता का दिन दूर है। तीसरी बात यह है कि यदि पढ़ाने का शौक है तो अनाथ बच्चों को पढ़ाओ ताकि उनका उद्धार हो और आपकी ओर से परोपकार और साधुओं का यह काम भी है। चौथी बात यह है कि फिर जैसा तुम्हारा जी चाहे वैसा करो, गृहस्थी बनना चाहते हो तो विवाह कर लो, हमारी ओर से भी आज्ञा है।

५८— एक रोज़ इर्शाद हुआ, कि जिस समय श्रीराम चन्द्र जी और रावण का युद्ध हो रहा था। उस समय श्री सीता जी ने बहुत व्याकुल होकर

त्रिजटाराक्षसी से पूछा कि रावण के न मरने का क्या कारण है। तो उसने उत्तर दिया कि उसके हृदय में अमृत है। इसी कारण जितनी बार इसके सिर व हाथ काटे जाते हैं फिर बढ़ जाते हैं। जिस समय श्री रामचन्द्र जी इसके हृदय में बाण मार कर अमृत को सुखा देंगे उस समय वह मरेगा। हृदय में बाण न मारने का कारण यह है कि रावण के हृदय में आप बसी हुई हैं, और आपके हृदय में श्री रामचन्द्र जी का निवास है और श्री रामचन्द्र जी के हृदय में समस्त भुवन हैं। इसी लिये उसके हृदय में बाण लगने से आपका क्षय होने से श्री रामचन्द्र जी का क्षय और उनके क्षय होने से सम्पूर्ण लोकों का नाश हो जायेगा। अब श्री रामचन्द्र जी यह युक्ति करेंगे कि बहुत से तीर मार कर उसको व्याकुल कर देंगे। जिससे घबरा कर उसका ध्यान छूट जायेगा, और आपका स्मरण भूल जायेगा उस समय उसके हृदय में बाण मार कर अमृत को सुखायेंगे तब उसको मृत्यु होगी।

५६—एक रोज़ इर्शाद हुआ, कि एक गडरिये का लड़का राज कन्या पर आसक्त हो गया। जब उसके महल के नीचे से निकलता तो यह कहता था।

ऊँचे २ महल चुनाता, बीच रखता मोरी।
जो राजा का बेटा होता, तो मिलति मोहे गोरी

राज कन्या ने जब यह सुना तो सोचा कि चल कर पूँछू तो कि यह क्या चाहता है, और एक रात को वह गडरिये के पास आई और उसको जगाना चाहा, परन्तु हर बार जब उसके बदन से हाथ लगाती थी तो गडरिया यह समझता था कि बकरियाँ खुल गई हैं और वह इसको तंग करती हैं। इस लिये उन्हें हटाने के लिये—छेह २ कह देता था और फिर सो रहता था। राज कन्या उसको बार २ जगाती थी और वह बार २ इसी प्रकार छेह २ कह कर सो जाता था। अन्त में जब प्रातः काल होने लगा तो राज कन्या अपने महल को लौट गई। दूसरे दिन जब गडरिया महल के नीचे से निकला तो उसने वही कविता सुनाई। उस समय राज कन्या ने उत्तर दिया—

मूर्ख रसिया जंगल के बसिया, तू क्या जाने विरह की चोरी।
छेह छेह करते रात बीत गई, पास खड़ी रही गोरी॥

इसी प्रकार दुनिया दारों का ध्यान जब मालिक की ओर होता है और उससे मिलने की इच्छा होती है तो वह महात्माओं के रूप में आकर उनको चेताना चाहते हैं, परन्तु वह ऐसे बेसुद्ध अज्ञानानन्द में सोये हैं कि महात्माओं को पाखण्डी समझ कर दूर २ भागते हैं और जागना नहीं चाहते। अन्त को जीवन का पात्र पूर्ण हो जाने पर इसी प्रकार खाली रह जाते हैं और लक्ष्य रूपी अमूल्यरत्न को प्राप्त नहीं कर सकते।

६०—एक रोज़ इर्शाद हुआ, कि सुखदेव जी को तपस्या के प्रताप से जब ऊँचा पद प्राप्त हुआ और हरी धाम में पहुँचे तो श्रीविष्णु जी महाराज ने कहा ! हे ऋषि जी तुम गुरु हीन हो। गुरु के न होने से तुमको तप का अभिमान हो गया है, तुम लौट जाओ और गुरु धारण करो, वह तुमको ठीक मार्ग बतायेंगे। सुखदेव जी ने गुरु की पहचान पूछी, तो यह उत्तर मिला

चौपाई—गुरु का निरख आँख और माथा।
सत्य का नूर रहे जेहिं माथा॥
गुरु सोई जो सत्य बतावे। और गुरु कोई काम न आवे॥
सत्य पुरुष का कहे सन्देशा। जन्म २ का मेटे अन्देशा॥
पाप पुण्य की आशा नाहीं। बैटें अक्षय वृक्ष की छांईं॥
भृङ्गी मत होवे जे पासा। सोई गुरु सत सुनो सुख दासा॥

छन्द—जो रहित घर बतलावे, सो गुरु सांचां मानिये!
तीन तज मिल आवे चौथे, तासों बचन प्रमानिये॥
पांच, तीन, अधीन काया, न्यार शब्द बिदेही।
देह माहीं विदेह दरसे, गुरु मता निज ऐही॥

दोहा—अस गुरु करे बनाय, बहूर न जग देही धरें।
नहीं आवे नहीं जावे, जेही सत गुरु दाया करें॥

सुखदेव जी ने लौट कर राजा जनक विदेह को गुरु बनाया और सत मार्ग पाया। इस अवसर पर कई सतसंगियों के मन में कुछ संशय उत्पन्न हुए, तो श्रीमहाराज जी ने फ़रमाया कि प्रत्येक मनुष्य के सुपुर्द कोई न कोई काम है और इसमें उसको कुछ न कुछ अधिकार भी दिया गया है। यदि किसी को उस काम से प्रयोजन है तो उस मनुष्य से भी सम्बन्ध करना

पड़ेगा यदि इस काम से प्रयोजन नहीं तो उस मनुष्य से भी सम्बन्ध या मिलाप की कोई आवश्यकता नहीं। दूसरी बात यह है कि गुरु की महिमा में इस स्थान पर यह वर्णन किया गया है कि वह ५ तत्व और तीन गुणों और चारों अवस्थाओं का साक्षी और विदेह मुक्त हो और उसमें भृङ्गी कीड़े का सा गुण हो कि जिसको चाहे अपना सा करले। ऐसे गुरु यदि कृपा कर दें तो जन्म मरण अर्थात् आवागमन से छुटकारा मिले। अर्थात् सुखदेव जी को जताया गया कि तुम्हें तो अभी तप का अभिमान नहीं मिटा है। यहाँ तो उसका प्रवेश होता है जिसमें उपरोक्त बातें हो। इस लिये इन बातों को प्राप्त करो अर्थात् अपने आपे को मिटा दो। तब इस स्थान में पाँव धरने के योग्य होगे। मुख्य बात तो अपने आपे को मिटाना है जिस प्रकार मनुष्य चाहे मिटा ले।

६१—एक दिन एक सत्संगी ने प्रार्थना की, कि इस संसार को स्वप्न से उपमा देते हैं वास्तव में स्वप्न और जागृत सर्वथा एक ही है तो स्वप्न के किसी कार्य के कर्त्ता हम नहीं ठहराये जाते। जागने पर स्वप्न के कर्मों का न दण्ड है न फल है तो फिर इसी प्रकार जागृत अवस्था का भी यही हाल समझना चाहिये। इसके कर्त्ता हम क्यों ठहराये जायेंगे, और पूर्ण पाप के भोक्ता क्यों माने जायेंगे। श्रीमहाराज जी ने फ़रमाया, कि प्रथम बात तो यह है कि दृष्टान्त का केवल एक अंग लिया जाता है। संसार को स्वप्न से उपमा जिस कारण दी जाती है उसको समझना चाहिये। यदि आपकी बात को देखा जाय तो भी स्वप्न के कर्मों का दुःख सुख स्वप्नों में जो मिलता है उस समय तो सुख दुख प्रतीत होता है। उसी प्रकार जाग्रत के पुण्य-पाप का सुख दुःख जाग्रत में मालूम होगा। वास्तव में बात भी यही है। यदि किसी को कैद का दण्ड मिले तो सोते समय उसका कुछ असर मालूम नहीं होता, परन्तु वास्तविक सुख उस जाग्रत में होता है जिसमें, जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति सबके दुख दूर हो जाते हैं उसी को प्राप्त करना चाहिये।

६२—एक रोज़ इर्शाद हुआ, कि यदि कोई ग्रहस्थी किसी महात्मा से जाकर पूछे कि परिवार को छोड़ने और साधू होने में क्या आनन्द है तो वह महात्मा कहते हैं कि साक्षात ईश्वर का दर्शन होता है। वह गृहस्थ वैसा

ही आचरण करने लगता है। अपनी सादगी से यह विचार नहीं करता कि उनसे आप तो नारायण के दर्शन नहीं किये मुझको कैसे प्राप्त होंगे यह तो आप ही अहं भाव ग्रहण, त्याग के बन्धन में बंधा हुआ है। ऐसे महात्माओं की हार्दिक इच्छा यह होती है कि उनकी सन्तान की वृद्धि हो, और सबमें प्रसिद्धि हो, कि ये अमुक महात्मा का शिष्य है। साधु बनना मन ही मन में अहंकार की अग्नि में जलना है वास्तविकता साधुता सूक्ष्म व स्थूल, लोक परलोक को त्याग करना है। स्थूल यह है कि अमुक माता है, पिता है, शत्रु है, जब इनको छोड़ दिया तो सूक्ष्म में बँध गया और यह भाव उत्पन्न हुआ कि मैं बड़ा परम ज्ञानी हूँ। मैंने इस प्रकार के ऐश्वर्य को त्याग किया है। यदि मैं चाहूँ किसी को मार डालूं, किसी को धन सम्पत्ति दूं और शरीर छोड़कर स्वर्ग में जाऊँगा, परमात्मा को मुझसे अधिक कोई प्रिय नहीं है। ऐसे निकृष्ट विचारों में पड़कर स्वरूप की खोज से रहित हो जाता है। यदि कोई ध्यान से देखे तो यह समस्त ऐश्वर्य जिसको अपना समझा है जब तक आँख खुली है तब तक है किञ्चित आँख बन्द होने से सब बेनिशान है। जब कि इनका कोई चिन्ह नहीं, फिर त्याग किस वस्तु का करते हैं। इस लिये यह विश्वास करना चाहिये मैं कुछ नहीं और न कोई मेरे से हुआ, त्याग व वैराग्य इसी का नाम है।

६३—एक रोज़ इर्शाद हुआ, कि अन्तःकरण की वृत्ति इन्द्रिय द्वार से निकल कर विषय तक जाती है, और इसे आवृत कर उसी का रूप धारण कर लेती है, इस प्रकार प्रमाता चेतन और विषय चेतन में अभेद होता है, अन्तःकरण में जो कि निर्मल वस्तु है और इस समय विषय की मूर्त्ति है, चेतन का प्रतिबिम्ब पड़ता है। इस प्रकार वस्तु जानी जाती है कि क्या है? इसी को प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं, और यही यथार्थ ज्ञान है। जहाँ इन्द्रिय और विषय का पूर्ण सम्बन्ध नहीं है, वहाँ यथार्थ ज्ञान की सम्भावना भी नहीं है। अस्तु यदि किसी दोष अर्थात् अन्धकार के कारण अन्तःकरण की वृत्ति विषय पर आवृत होकर उसका रूप पूर्ण रूप से धारण नहीं कर सकती है, वहाँ अधूरा ज्ञान रहेगा, इसी को भ्रम कहते हैं। क्योंकि वास्तविकता केवल ज्ञान स्वरूप आत्मा है, और वह संसार वत दृष्टिगोचर हो रहा है। इसी लिये यह इसी

प्रकार का भ्रम है, जिस प्रकार अन्धेरे में रस्सी सर्पाकार दीखती है। यहाँ रस्सी अधिष्टान है और साँप भ्रम है, इस दृष्टिगोचर होने और अनुभव होने को शास्त्र में ख्याति कहते हैं, भिन्न २ मत मतान्तर इस भ्रम का ऐसे वर्णन यूं करते हैं—

(१) असत ख्याति—यह शून्य वादी या निह लिस्ट (Nihlist) का मत है, यह कहता है कि जो संसार हमें प्रतीत होता है, भौतिक सृष्टि और चेतन सत्ता सब एक देखने मात्र हैं, न भौतिक सृष्टि का अस्तित्व है न चेतन सत्ता का, दोनों असत् अर्थात् सर्वदा नाशवान हैं। जब तक हम जीवित रहते हैं, यह दृश्यमान जगत् अपना कौतुक दिखाता रहता है। मृत्यु के पश्चात् कुछ भी शेष नहीं रहता इसी को शून्य कहते हैं, अर्थात् जिस प्रकार असली रस्सी और सीपी असत्य है। इसी प्रकार इनमें साँप और चाँदी की प्रतीति होना भी असत्य है, परन्तु इसमें यह शंका उत्पन्न होती है कि यदि संसार असत् अर्थात् नाशवान् है तो गधे के सींग या बन्ध्या पुत्र की भाँति प्रतीति बिलकुल होनी ही नहीं चाहिये।

(२) आत्म ख्याति—यह ज्ञान वादी या आईडियेलिस्ट (Idealist) और सैनसेशन लिस्ट (Sensationalist) का मत है, यह कहता है कि जो जगत् हमें प्रतीत होता है वह हमारे ही मन के भीतर है, और हमारे ही मनो वृत्तियों का संग्रह है हमसे बाहर नहीं है। क्षण क्षण में मनो वृत्तियाँ बदलती रहती हैं, परन्तु जल प्रवाह की तरह एक विज्ञान धारा दीखती है, अस्तु रस्सी में साँप का भास यानि भ्रम इस बात में है कि साँप वृत्ति रूप से हमारे मन के अन्दर है हम उसे अनुभव करते हैं, इसमें केवल यही सन्देह होता है कि साँप जब मन के अन्दर है, तो प्रतीत भी इसी प्रकार होना चाहिये कि मन के अन्दर है, जैसे स्मरण शक्ति के भाव व्यक्त होते हैं। बाहर क्यों प्रतीत होते हैं, दूसरे यदि धारा प्रतिक्षण बदलती रहती है तो क्षणिक विज्ञान वाद के सिद्धान्त अनुसार इनका अनुभव होना भी क्षणभर से अधिक न होना चाहिये।

(३) अनिथ्या ख्याति। यह न्याय और वैशेषिक शास्त्रों का सिद्धान्त है, इसके यह अर्थ हैं कि वस्तु कुछ और है और दीखती कुछ और है। न्याय

सिद्धान्त के अनुसार बाहर वस्तुओं के ज्ञान का ढंग इस प्रकार माना गया है कि विषय का प्रथम इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध होता है। इन्द्रिय का मन से और मन का आत्मा से। इस सीमा तक पहुँच कर ज्ञान हो जाता है। अर्थात् समस्त ज्ञान इन्द्रियों से उत्पन्न होता है।

(४) ख्याति यह पूरब मीमांसा और साख्य का मत है—ख्यातिवादी कहता है भ्रम के ग्रह में दोष अर्थात् अन्धकार के कारण विषय का इन्द्रियों से पूर्ण रूप से सम्बन्ध नहीं होता, परन्तु जितना होता है, इससे कुछ २ विषयों के गुण विदित होते हैं और उनसे मन में उन्हीं के अनुरुप संस्कार उदय होते हैं, जैसे कि रस्सी के रूप में लम्बाई या साँप का रूप होना। इसी कारण से रस्सी साँप दिखाई देने लगती है। इसमें केवल प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यदि सन्पूर्ण ज्ञान इन्द्रिय जनित है तो भ्रम ज्ञान भी इन्द्रिय जनित ही होना चाहिये। यदि कहो कि भ्रम भी इन्द्रिय जनित ज्ञान है, क्योंकि विषय और इन्द्रिय के सम्बन्ध से कुछ गुण तो बिना किसी सम्बन्ध के ही इन्द्रिय जन्य हैं और कुछ पूर्व संस्कारों के सम्बन्ध से इन्द्रिय जन्य हैं, प्रथम तो यह शंका उत्पन्न होती है कि यह दोहरा ज्ञान अनुभव सिद्ध नहीं। साँप एक ही ज्ञान में प्रत्यक्ष दृष्टि आता है। दूसरे यदि विज्ञान इन्द्रिय जन्य है तो अन्यथा ख्याति या और प्रकार से प्रतीति अर्थात् अनुभव की सम्भावना ही नहीं। वस्तु जैसी है वैसी ही दीखनी चाहिये। भला कैसे सम्भव है कि वस्तु अर्थात् विषय मालूम तो रस्सी हो और ज्ञान होता है साँप का।

(५) अखयाती यह सांख्य और प्रभाकर का मत है—अखयाती वादी का अभिप्राय है के जो असत्य की प्रतीति होवे तो बंधया पुत्र और खरगोश के सींग भी प्रतीत होने चाहिये जहाँ रस्सी में सर्प भ्रम है तहाँ रस्सी में आँख का अपनी वृत्ती द्वारा सम्बन्ध हो के रस्सी का अंग रूप से सामान्य ज्ञान होता है और सर्प की स्मृति होती है, परन्तु भय दोष परमाता में और तिमर दोष प्रमान में इनके बल से पुरुष को विवेक नहीं होता कि मुझको दो ज्ञान हुये इस दो ज्ञान के विवेक का सांख्य प्रभाकर मत में भ्रम कहते हैं।

(६) अनिर्वचनीय ख्याति, यह वेदान्त का मत है कि भ्रम के महल में जहाँ रस्सी में साँप और सीपी में चाँदी भासती है वहाँ ज्ञान का कार्य

इस प्रकार होता है कि अन्तःकरण की वृत्ति इन्द्रियों के द्वार से निकल कर विषय यानि रस्सी या सीपी तक जाती हैं, परन्तु अन्धेरे आदि के दोष से उन पर फैल कर उनका रूप ग्रहण नहीं कर सकतीं इस वजह से बारम्बार यह संशय होता है कि यह क्या वस्तू है। विषय चेतन्य के आश्रित अविद्या और अन्तःकरण चेतन्य के आश्रित अविद्या दोनों मिले हुए हैं, परन्तु यह मेल पूरा नहीं है। रस्सी में जो साँप दीखता है वह स्मृति का खेल या भ्रम नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष दिखलाई देता है स्मृति का खेल तो वहीं निवृत हो जाता है जहाँ रस्सी से मिलती हुई वस्तु यानि साँप के संस्कार मन में उदय हो जाते हैं अब तो मन का काम आरम्भ होता है कि साँप का आकर घड़ता है और उसको मन के भीतर से निकाल कर इस प्रकार बाहर फेंकता है जैसे स्वप्न की सूरतों को। यह ही वजह है कि साँप ऐसे ही प्रत्यक्ष भासता है जैसे स्वप्न की सूरत साफ़ और प्रत्यक्ष दीख पड़ती है। साँप रस्सी को तो छुपाता जाता है और दमबदम अपने अङ्ग एक के पीछे दूसरा दिखाता जाता है। यही आवरण और विक्षेप माया की दो शक्तियाँ हैं जो स्वरूप को छुपाती हैं और नई-नई सूरतें पैदा करती जाती हैं। अब यह प्रश्न उठता है कि यह रस्सी न पहले कभी साँप बनी न अब है न भविष्य में होगी फिर यह साँप क्या है जो प्रत्यक्ष दीखता है इसको सत्य नहीं कह सकते, सत्य वह ही है जो तीनों काल में सत्य रहे, इस रस्सी के साँप का ज्ञान से बाध हो जाता है यह साँप न पहले था न भविष्य में रहेगा। अब वर्तमान में दीखता है न इसको सत्य कह सकते हैं न असत्य कह सकते हैं। इसको अनिर्वचनीय कहते हैं यानि जिसका वर्णन न हो सके। यहाँ यह बात पैदा होती है कि जब संसार ज्ञान स्वरूप आत्मा का भ्रम है तो उसने अपनी जान को यह बखेड़ा क्यों लगाया है। अपने आनन्द ही में मगन क्यों न रहा—ज्ञान स्वरूप आत्मा स्वतन्त्र है जैसे स्वप्न में वह कभी सुख रूप, कभी दुख रूप स्वप्न रच लेता है उसी प्रकार उसने जगत की रचना करली है—जैसे स्वप्न में अपने कर्म और विचारों के अनुसार स्वप्न रचे जाते हैं उसी प्रकार इस जाग्रत जगत की रचना समझो। इस जन्म का भोग पहले जन्म का फल है। इस भाँति जन्म जन्मातर के कर्मों के फल के अनुसार जन्म और उत्पत्ति होती है। अगर

परमात्मा और जीव को अलग-अलग माना जाये तब तो कह सकते हैं कि परमात्मा ने जीव के लिये यह दुख क्यों रचा जब द्वैत नहीं तो स्वप्न देखने वाला जैसा दुख-सुख रूप स्वप्न अपने लिये चाहे रचले सब वस्तु माया यानि अविद्या के परिणाम यानि बदलने वाली सूरतें हैं या यूँ समझो कि चेतन्य के निवृत्ति है सब रूपों में चेतन्य भाँति-भाँति के रूप से ऐसे ही दिखलाई देता है जैसे स्वप्न में अनेक रूपों में दीख पड़ता है।

६४—एक रोज़ श्री मुख से फ़रमाया, कि हम यात्रा करते हुए सिन्ध की ओर चले गये। एक हिन्दुस्तानी ब्राह्मण भी हमारे साथ थे वहाँ पर एक भक्त ने हमें निमन्त्रण दिया। ब्राह्मण देवता भी भोजन करने गये। भोजन करते २ हमने देखा कि उस भक्त का कोई मनुष्य बाहर से आया और पानी पीने का जो मटका सामने धरा था उसमें से गिलास भर कर पानी पीना आरम्भ किया जो जूठा पानी गिलास में बचा वह उस घड़े में डाल कर घड़ा ढक कर बाहर चला गया। जब हमें पानी की आवश्यकता हुई तो भक्त जी ने उसी घड़े में से लोटा भरकर हमें और उन ब्राह्मण देवता को दे दिया। यह देखकर हमें आश्चर्य हुआ, परन्तु हमने विचार किया कि तुम तो साधु हो जाति बन्धन नहीं तो फिर भय किस बात का। हमने तो पानी पी लिया, परन्तु उन ब्राह्मण देवता ने पानी न पिया वरन खाने से भी उसी समय हाथ खींच लिया।

६५—एक रोज़ इर्शाद हुआ, कि कावल में एक फ़कीर साः अपनी अंगुली दिखा कर सारे बाजार में यह कहते हुए निकले कि ईश्वर की अंगुली में अगूंठी पहना दो। इस नास्तिक के शब्द को सुन कर लोग उनको पकड़ कर काज़ी साहब के पास ले गये। काज़ी सा० ने मृत्यु दण्ड की आज्ञा दी। जब अमीर साहिब के आगे अपील पेश हुई और फ़कीर सा० से उत्तर मांगा गया तो उन्होंने कहा अच्छा यह बताओ कि यह संसार किस का है तो उत्तर मिला ईश्वर का। फिर पूछा कि यह देश किस का है तो पुनः उत्तर मिला कि ईश्वर का। बोला कि यह जीवन किसका है तो कहा कि ईश्वर का। फरमाया कि यह शरीर किसका है तो बोले कि ईश्वर का। तब फ़कीर

सा० ने फरमाया कि जब यह शरीर ईश्वर का है तो यह अँगुली ईश्वर की न हुई तो किस की हुई ?

६६—एक दिन सर्व ब्रह्म के विषय पर वार्तालाप हो रहा था। किसी साहिब ने शङ्का की कि जब सर्व ब्रह्म है तो चाहे किसी की वस्तु हो वह सब हमारी है हम उसको क्यों न ले लें ? इस पर श्री महाराज जी ने फरमाया कि क्या जो वस्तु आपके बायें हाथ में है वह आपकी नहीं है ? क्या यह आवश्यक बात है कि जब आप इसको अपने दाहिने हाथ में लें तब ही वह आपकी होगी और बायें हाथ में होने से किसी और की हो। जब सम्पूर्ण प्राणी मात्र के हाथ विराट रूप ब्रह्म के हाथ ही हैं तो ऐसी अवस्था में वह वस्तु चाहे किसी के पास हो सब उस विराट रूप ब्रह्म की ही है। यह कोई आवश्यक बात नहीं कि वह वस्तु विशेष कर आपके हाथ में या किसी के हाथ में दी जाये तभी ब्रह्म की होगी। जब वह वस्तु दूसरे के हाथ में रह कर भी आपकी हो सकती है तो क्या आवश्यकता है कि आप ही उसको हाथ में लेने का यत्न या चिन्ता करें। हाँ जैसे कोई व्यक्ति हाथ बदलने या किसी विशेष कारण से एक हाथ से दूसरे हाथ में वस्तु ले लेता है उसी प्रकार ईश्वरीय शक्ति वह वस्तु उस व्यक्ति से लेकर या किसी और ढङ्ग से आपको पहुँचा दे तो उसकी इच्छा, परन्तु इस विषय हैं आपका विचार और आपका यत्न और चिन्ता व्यर्थ है।

६७—एक दिन श्रीमुख से फ़रमाया, कि सम्पूर्ण वस्तुयें पाँच प्रकार से सिद्ध होती हैं। नाम, रूप, अस्ति, भाँति प्रिय। जैसे घट नाम गोल रूप, अस्ति है, भाँति उसकी प्रतीति अर्थात् विश्वास और प्रिय प्रसन्नता अर्थात् जल भरने के काम आता है इस लिये प्यारा लगता है। प्रकृति को जो मिश्रित माना गया है तो उसके मिश्र में तत्व आदि जैसे ईंट, पत्थर, मसाला के काम में लाई गई हैं, परन्तु वह कला का रहस्य जिससे वह ईंट, पत्थर जोड़े गये हैं इन्हीं शब्दों के अर्थ में छुपी हुई है, जिस प्रकार मिश्रित वस्तु के अंशों को प्रथक् २ करने से उसका प्रत्यच्च ज्ञान हो जाता है, और उसका रूप मिट जाता है इसी प्रकार इस प्रकृति के सिद्धान्त को सिद्ध करने से वह भी अदृश्य हो जायेगी, और उसके भेद का

ज्ञान हो जायेगा। इस विश्लेषण (पृथक् २ करने) को ही अभ्यास, ज्ञान, धारणा, ध्यान, इत्यादि भिन्न भिन्न उपयोगों व भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा गया है। इन निम्नलिखित पांच प्रकारों में से नाम व रूप व्यभिचारी अर्थात् परिवर्तनशील हैं क्योंकि पट में घट के नाम और रूप नहीं, परन्तु अस्ति, भाँति और प्रिय सामान्य हैं। इसीलिये नाम व रूप जो कल्पित हैं इनको दूर कर दिया जाये तो शेष अस्ति, भाँति और प्रिय रहता है। जैसे शरीर नाम मोटा व दुबला, काला गोरा रूप "अस्ति" है 'भाँति' चित्त और प्रिय 'आनन्द' अब नाम व रूप दूर किये जायें तो शरीर केवल मिट्टी है। अब मिट्टी अपने अंशों सहित जल का कारण अर्थात् परिणाम होने से जल रूप है। इसीलिये 'मिट्टी' नाम वा 'गन्ध' रूप दूर किये जायें तो मिट्टी जल है और जल अग्नि से उत्पन्न होने के कारण अग्नि रूप है। इसी कारण 'अग्नि' नाम व 'प्रकाश' रूप दुर करने से पवन है और पवन आकाश का कार्य होने से आकाश रूप है इसीलिये 'पवन' नाम व 'स्पर्श' रूप दूर करने से आकाश रहता है और आकाश महातत्व का कार्य होने से महातत्व का रूप है। 'आकाश' नाम व शब्द रूप दूर करने से जो शेष रहता है उसके विषय में यह कहना पड़ता है कि 'मैं नहीं जानता' यह अज्ञान है। महातत्व अज्ञान का कार्य होने से अज्ञान रूप है। 'अज्ञान' नाम व 'जानना' रूप दूर किया तो शेष शून्य रहता है। 'शून्य' नाम और खाली रूप दूर करने से अनुभव शेष रहता है, जो नाम व रूप से रहित — अस्ति, भाँति, प्रिय रूप है, अर्थात् जब मनुष्य अज्ञान की अवस्था तक पहुँच गया तो फिर मौन हो जाता है। अज्ञान व माया, न्यूनाधिकता गुणों से दो भाग प्रकृति के हैं। माया व अज्ञान प्रकृति के दोनों भाग प्रकृति का कार्य होने से प्रकृति रूप हुये। प्रकृति ईश्वर की शक्ति है अर्थात् जो चेतन्य प्रकृति से मिला हुआ है वह ईश्वर के नाम से पुकारा जाकर जगत् का कर्त्ता माना गया है। अतः प्रकृति का ईश्वर से तादात्म्य अर्थात् भेद अभेद सम्बन्ध है अर्थात् जिसमें न विरोध है न समर्थन। जैसे शब्द का अर्थ से सम्बन्ध है जैसे शब्द अग्नि है और आग इसका अर्थ है यदि इनमें विरोध हो तो शब्द वायु से भी जो अग्नि का विरोधी है, वही अर्थ आग के भी होने चाहियें। परन्तु अग्नि से केवल आग का ज्ञान होता है, इसीलिये अर्थ में

विरोध नहीं। यदि समर्थन हो तो शब्द आग कहते समय कहने वाले की जिह्वा जलनी चाहिये क्योंकि वह शब्द आग है, परन्तु ऐसा नहीं होता, अर्थात् एक कल्पित सम्बन्ध है जो सम्बन्ध सम्बन्धी, पेशा-पेशावर और गुण-गुणी में हैं अर्थात् प्रकृति ईश्वर की शक्ति का नाम है और शक्ति शक्तिवान से पृथक् नहीं रहती वरन् उसी का रूप है। इसीलिये प्रकृति ईश्वर का रूप है। ईश्वर ब्रह्म में इस प्रकार कल्पित है जैसे जल में समुद्र, बस ईश्वर ब्रह्म रूप है। अब ब्रह्म का नाम भी अंशो के सम्बन्ध से है जब अनुरूप कारण बीच में कोई नहीं तो आत्म तत्व अखण्ड स्वरूप है।

६८—एक दिन श्री मुख से फरमाया, के द्रष्टा का दृश्य के साथ जो संयोग होता है उसी का नाम बन्धन है और इस संयोग के निवृत्त होने का नाम मोक्ष है। निवृत्त का उपाय यह है कि देह रूपी जगत् चिन्मात्र रूप है और कुछ उपजा नहीं, जो उपजा जान पड़ता है वह ऐसे है जैसे सुषुप्ति से स्वप्न और जैसे स्वप्न में सुषुप्ति होती है तैसे ही जगत की प्रलय होती है और जो प्रलय में शेष रहता है उस सबका अपना आप रूप है। दृश्य संयोगी चेतन जीव है वह जन्म रूपी जंगल में भटकता है इस चेतन को जो चेतन अर्थात् चिदाभास जीव प्रकाशी कहते हैं वह अज्ञानी है यह संसारी जीव है इसके जानने से मुक्ति नहीं होती। मुक्ति परमात्मा के जानने से होती है। देश-देशान्तरकी जो वृत्ति जानी है उसके मध्य जो ज्ञान संपत है वह परमात्मा का रूप है। शुद्ध चिन्मात्र में चेतन दृश्य फुरने से रहित होकर स्थित होने का नाम ज्ञान है।

६९—एक रोज़ इर्शाद हुआ कि बन्धन के कारण यह हैं—(१) धन, दौलत, दूसरे भोगों की तृष्णा, तीसरे भाई बन्धु, कुटुम्ब परिवार। —ज्यादा धन दौलत अनर्थ का कारण होती है। यह भोग-महारोग हैं। यह जो संग और मिलाप भासता है सो ऐसा है जैसे बैठे-बैठे स्मरण आये कि मैं अमुक मनुष्य से मिला था तो प्रतिभा प्रत्यक्ष हृदय में भासती है जैसे कोई संकल्प नगर रच लेता है तो उसमें मनुष्य आदि रूप भासने लगता है। वैसे ही इस जगत को जानो। ग्रहण करना किसको कहते हैं और त्याग क्या वस्तु

[पिच्यानबे

है ऐसे विचार से असत्य व्रत को त्याग करो और आत्म तत्व का आश्रय लो। यह अपवित्र देह लहू, मांस, हाड़ से भरी है और तुच्छ है। इसका आचार दुष्ट है और देह के निमित्त भोग की इच्छा करने से परमार्थ सिद्ध नहीं होता। संकल्प से देह रची है। प्राण से चेष्टा करती है, अहंकार पिशाच ने इसमें प्रवेश किया है और गरजता है। मन की वृत्ति सुख दुख को ग्रहण करती है। जीव दुखी होता है वास्तव में अपना स्वरूप चित्त से रहित चेतन्य केवल चिन्मात्र और साक्षी है। दूसरे सार और असार का विचार मुक्ति का दाता है। जो कुछ संसार है उसमें सार देह है, क्योंकि सब देह के सम्बन्धी हैं। देह में सार इन्द्रिय है। इन्द्रियों में सार प्राण है, प्राण में सार मन है, मन का सार बुद्धि है, बुद्धि का सार अहंकार है, अहंकार का सार जीव है, जीव का सार चिदावली है, चिदावली वासना रहित चेतन को कहते हैं और चिदावली का सार चित्तसे रहित शुद्ध चेतन है जिसमें सब विकल्प लय हो जाते हैं, जो शुद्ध निर्मल और चिन्मात्र ब्रह्म आत्मा है उसमें कोई उत्थान नहीं। चिदावली तक सबको त्याग कर इनका सार जो यह चेतन्य मात्र आत्मा है इसमें स्थित हो।

७०—एक रोज़ इर्शाद हुआ कि यह मन भोगों को सुख रूप जान कर उनकी ओर भागता है। वह अविचार से पहले तो अमृत की न्याईं जान पड़ते हैं, पीछे विष के समान हो जाते हैं। अपने को कर्त्ता और भोक्ता मानना मिथ्या है, इन्द्रियां भी कर्त्ता और भोक्ता नहीं क्योंकि वह जड़ हैं। जो तुम अपने को इन्द्रियाँ मान कर जड़ मानो तो सच्चिदानन्द स्वरूप के साथ मेल कैसे होगा, यदि जड़ और असत्य रूप ठहरें तो कर्त्ता और भोक्ता भी नहीं हो सकते, जो चेतन्य और सत्य रूप स्थित हुये तो भी तुमको कर्म और भोग नहीं हो सकता। देखो जब पुरुष अपने परिवार अर्थात् देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि और जो इनमें अहंभाव है उसको त्याग करे तब मुक्त हो। जो चेतन्य तत्व और विस्तृत रूप है वह सब चेतन्य मात्र है। चेतन्य ही प्रमाण है। तुम भी चेतन्य स्वरूप हो, मैं भी चेतन्य हूँ और यह लोग भी चेतन्य हैं, यही सबका सार है। जब ऐसा दृढ़ निश्चय होगा तब निर्मल निश्चय, आत्म बुद्धि से अपने आपको देख सकोगे।

७१—एक रोज़ श्री मुख से फ़रमाया कि मन बड़ा बलिष्ट शत्रु है। इसके दो स्वरूप हैं। एक शरीर से तो सर्व शरीरों और ब्रह्माण्ड में प्रवेश करता है और उसका दूसरा स्वरूप जबरूत अर्थात् त्रिकुटी स्थान में है, उसी स्थान से समस्त संसार की रचना हुई है इसीलिये इसको मन का पसारा कहते हैं। मन के दो स्वरूप हैं, एक उत्तम दूसरा मध्यम। ब्रह्माण्डी मन को उत्तम कहते हैं और पिण्डी मन जिसको जीव, मन, चित्त, अहंकार, माया आदि के नाम से पुकारते हैं अशुद्ध मन कहलाता है। इसका स्वरूप राग-द्वेष है। जब मन राग-द्वेष में फंसता है तब नसों में विभिन्नता आ जाती है। जो नसें खून और वीर्य आदि को ले जाती हैं उन में दोष हो जाने से रोग उत्पन्न हो जाता है, अन्न नहीं पचता, शारीरिक और मानसिक चिन्तायें घेरती हैं। इस मन को इस प्रकार मारना चाहिये कि वांच्छित पदार्थ की ओर ध्यान न करने पावे। अन्दर ही अन्तर्गत करके रह जावे, बहिर्गत न होने पावे। जो इच्छा मन में उठे उसे रोके तब शान्त हो जाता है यह मन शून्य स्वरूप है। संकल्प का नाम मन है और चिन्मात्र करने से यह चित्त कहलाता है। जब प्राणी फुरता है तब मन प्रकट होता है। इसी से संसार की उत्पत्ति होती है। इस चित्त के दो बीज हैं एक तो प्राणों की गति दूसरे वासनाओं का चलायमान होना। कुण्डलिनी के शब्द से ओंकार उत्पन्न होता है वही मन है। सो हृदय आकाश से निकलता है और बाहर जाता है। बाहर से भीतर आता है, वही प्राण है। इस मन की पांच अवस्थायें हैं। एक प्रमाण, समस्त जगत आत्मा ही दिखाई देय। दूसरा विपर्य वृत्ति—यह प्रतीत हो कि समस्त जगत आत्मा है, परन्तु अज्ञान वश संसार होकर उल्टा दीखता है। इसको उल्टी अवस्था कहते हैं। तीसरी, विकल्प वृत्ति यह है कि शब्द भी जानता है, शब्द के अर्थ भी जानता है, परन्तु अभिप्राय नहीं समझता और कहता है कि यह मनुष्य बुद्धिमान है, यह मनुष्य है और मनुष्य मूर्ति है। यह विकल्प वृत्ति है अर्थात् एक बात को मानना और फिर हटना। चौथी, निद्रा—अपने स्वरूप को भूल जाना अर्थात् स्वप्नावस्था में अपने आपको नहीं जानता कि कौन हूँ। पांचवा, स्मृति वृत्ति कहती है कि अपने को भूला हूँ।

अपने को भूल जाने की याद को स्मृति वृत्ति कहते हैं। इन पांच हथियारों से यह मन सर्प के समान बलिष्ट हो रहा है।

७२—एक रोज़ इर्शाद हुआ कि प्रायः लोग करामात देखने के इच्छुक होते हैं। वे करामात से किसी ऐसी अद्‌भुत बात का प्रकट होना समझते हैं जो मनुष्य की बुद्धि को आश्चर्य में डालने वाली हो और साधारण मनुष्य की शक्ति से इसका होना असम्भव हो अर्थात् बाहर हो। अक्सर यह भी विचार करते हैं कि प्रकृति के नियम के विरुद्ध कार्य करने को करामात कहते हैं। कारण यह है कि प्रकृति का नियम ऐसा विस्तृत है कि बड़े-बड़े अवतार और सन्त महात्माओं ने भी कहने में संकोच किया है कि अमुक बात नियमानुसार है और अमुक उसके नियम के विरुद्ध, वरन् यह समझ में आता है कि जो कुछ प्रगट होता है और देखने में आता है वह समस्त प्रकृति के नियम के अनुसार ही होता है। ऐसी कोई दूसरी शक्ति विचार में नहीं आती जो उसके विरुद्ध कर सके। दूसरे, मनुष्य की बुद्धि इतनी सीमा बद्ध है कि बहुत सी मनुष्य की छिपी हुई शक्तियों से वह स्वयं परिचित नहीं। इसलिये उनके चमत्कार को यदि वह कभी या किसी विषेश मनुष्य में हों तो आश्चर्य समझ लेना कोई बड़ी बात नहीं। वास्तव में प्राचीन सत्पुरुषों, सन्त और अवतारों से जो चमत्कार हुए, वह दो विभागों से विभक्त हो सकते हैं। (१) अनुभवी मन अर्थात् अपने मन की पवित्रता से दूसरे के मन की या दूर देशों की अवस्थाओं को जान लेना। (२) दूसरा, अन्तःकरण की शुद्धता से जो समाचार जाने जाते हैं उस पर आन्तरिक शक्ति का प्रभाव डाल सकना। आत्म शक्ति या तप बल से अन्तःकरण को जब एकाग्रता, पवित्रता प्राप्त होती है तो दिल में करामात की शक्ति अपने आप प्राप्त हो जाती है, क्योंकि जिस तत्व से मनुष्य बना है वह वस्तु विभक्त नहीं वरन एक है। साधारण मनुष्य को ज़ङ्गारेक़ल्ब अर्थात् मन की मलिनता के कारण यह भेद मालूम नहीं हो सकता है।

बनी आदम आज़ाये यक दीगर अन्द।
कि दर आफ़रीनश ज़ियक जोहर अन्द॥

सम्पूर्ण मनुष्य एक दूसरे के अंग हैं क्योंकि सब की उत्पत्ति एक तत्व

से है। अब अन्तःकरण की पवित्रता से इस बात का पता लगाया तो पता चलता है कि यह दिल कोई भिन्न वस्तु नहीं वरन विशाल समुद्र है। इसलिये एक से दूसरे की अवस्था छिपी नहीं रह सकती। अथवा यूँ कहना चाहिये कि वह भिन्न ही नहीं, एक ही है। धीरे २ इस अवस्था में स्थिर होकर उस पर अधिकार हो जाता है, उस अवस्था में मनुष्य को इसी प्रकार के काम करने की शक्ति और योग्यता प्राप्त हो जाती है जैसे इस प्रत्यक्ष जगत में। इस संसार में जैसे मान्य मनुष्य की बात को चाहे उसमें धन की बढ़ाई हो या पदाधिकार की या शारीरिक बल की, बहुत से मनुष्य इसके बड़प्पन को मान कर उसके वश हो जाते हैं। उसी प्रकार उस जगत की अवस्था भी समझनी चाहिये। जिस प्रकार न्यूनाधिक शक्ति का अधिक व न्यून प्रभाव इस जगत में है, वही अवस्था उस जगत की है। जिसमें जितनी अधिक आन्तरिक शक्ति और आत्मिक अधिकार होता है उतनी ही शक्ति और अधिकार उसको आत्मिक सृष्टि में होता है। मकाशफ़ा अर्थात अनुभव (गुप्त भेदों को जान लेने) का एक दृष्टान्त यह है कि श्रीरामचन्द्र जी महाराज ने सती माता को और श्री कृष्ण जी महाराज ने कंस के दूतों को जो दूसरा वेष धरकर आये थे, पहचान लिया था। उनके मनोभावों को समझ कर उनके साथ यथायोग्य बर्ताव किया। दूसरी अवस्था अर्थात् आन्तरिक शक्ति के प्रभाव का यह दृष्टान्त है कि श्री कृष्ण महाराज ने द्वारका पुरी में बैठे द्रोपदी की सहायता की और उसके वस्त्र बढ़ाये। इन बातों से प्रकट है कि इस प्रकार की करामात का प्रगट होना असम्भव नहीं और न प्रकृति नियम के विरुद्ध है वरन एक प्रकार की शक्ति पर निर्भर है जिसका भजन अभ्यास आदि की शक्ति से सम्बन्ध है और यह प्राप्त हो सकती है। किन्तु इनके प्रकट करने में प्रसिद्धि है और महात्माओं के लिये प्रसिद्धि उचित नहीं। इसलिये इसके प्रकट करने में बड़ी सावधानी से काम लिया जाता है। केवल विशेष २ अवसरों और समय पर जो सर्व साधारण की भलाई के लिये हों प्रकट करते हैं, नहीं तो सर्वथा इससे बचते हैं। अपने स्वार्थ के लिये तो कभी भी काम में नहीं लाते क्योंकि उच्चलोक की आत्मशक्तियों को इस जगत की कोई बात पूरी करने के लिये काम में लाना उस शक्ति का दुरुपयोग है। सदुपयोग और

प्रबन्ध इसी का नाम है कि जहाँ की वस्तु हो वहीं काम आये। श्रीकृष्ण जी महाराज और श्रीरामचन्द्र जी महाराज को इस प्रकार सम्पूर्ण शक्तियाँ प्राप्त थीं, वह जैसे चाहते काम में ला सकते थे, परन्तु अपने निज कार्य के लिये उसे कभी भी काम में नहीं लाये। इसीलिये उनकी अधिक महानता और बड़ाई मानी जाती है।

७३—एक शिष्य ने कई बार प्रार्थना की कि श्री महाराज जी कुछ भजन अभ्यास मुझको भी बतावें, परन्तु आप सदा ही सुन कर चुप हो जाते थे। जब बार २ उन्होंने मनोइच्छा प्रकट की तो श्री महाराज जी ने फ़रमाया कि लुकमान हकीम का यह नियम था कि जब कोई उसका शिष्य होने को आता तो वह उसकी भली प्रकार जांच कर लेता। एक व्यक्ति जब शिष्य होने के भाव से उपस्थित हुआ तो उसको सर्दियों के दिनों में रात्रि के समय एक चार दीवारी के अन्दर बन्द कर दिया जहाँ पर पनाह अर्थात् ओट की कोई जगह न थी। जब बर्फ़ गिरनी आरम्भ हुई, चारों ओर से पवन लगी, तो उसके अंग शिथिल होने लगे और शरीर ठंडा होने लगा। उस समय उस मनुष्य ने चारों ओर ढूढ़ना आरम्भ किया कि कि कोई आश्रय या स्थान मिल जाय जिससे सर्दी हटाऊँ, परन्तु वहाँ पर कुछ न पाया। केवल एक भारी पत्थर और एक सोटा रखा हुआ था। दिल में सोचा कि जान बचाने की कोई न कोई सूरत निकले तो इसी के द्वारा निकालनी चाहिये। अन्त को सोटा संभाल कर खड़ा हो गया, उस पत्थर को उठाना, सरकाना और इधर से उधर लुढ़काना आरम्भ किया। जब बहुत परिश्रम किया और शरीर में गरमी आ गई और सर्दी हट गई तो थककर एक स्थान पर बैठ गया। जब फिर सर्दी का ज़ोर हुआ तो वही पत्थर और लक्कड़ सम्हाला। इसी प्रकार बहुत कोशिश और महनत से रात्रि व्यतीत की। प्रातःकाल जब लुकमान के पास उपस्थित हुआ तो उन्होंने शिष्य बनाना स्वीकार किया और घर लौट जाने की आज्ञा दी। वह व्यक्ति सोचने लगा कि न तो इन्होंने कुछ पढ़ाया, न कुछ लिखाया, न सिखाया, न बताया। यह कैसी शागिर्दी और उस्तादी है। लुकमान ने उसके मन का हाल जान कर कहा कि भाई यहाँ पढ़ने पढ़ाने और बताने कराने को क्या धरा है जो कुछ है सब तुम्हारे अन्दर ही है। हमको

केवल इतना ही देखना था कि तुम इससे कहाँ तक लाभ उठा सकते हो सो देख लिया। कल रात बिना किसी ओढ़ने पहरने की वस्तु के उस कठिन सर्दी और बर्फ़ आदि से तुमने अपनी जान बचाली। भला वहाँ तुमको बताने और सिखाने वाला कौन था।

७४—एक रोज़ इर्शाद हुआ, कि भूत काल में एक ब्राह्मण ने एक हज़ार वर्ष तक विष्णु भगवान् की उपासना की और विष्णु भगवान् ने प्रत्यक्ष प्रकट होकर कहा कि हे ब्राह्मण तेरी ऐसी उपासना से मुझमें और तुझमें अन्तर उत्पन्न हुआ है क्योंकि तेरे भीतर बाहर मैं हूँ तू नहीं है। तू इस परिश्रम को छोड़ कर अपने को मुझमें और मुझको अपने में समझ प्रसन्न रहा कर। ब्राह्मण ने मन में विचार किया कि मैंने सुना है कि जब कोई भजन गोविन्द में लगता है तो देवता जिन्नों को कह देते हैं कि इनके मार्ग में बाधा डालो सो यह ऐसा ही कारण मालूम होता है। यह सोच कर कहने लगा कि हे जिन्न मैं नादान नहीं जो तेरे बहकाने से अपना विश्वास छोड़ दूँ। जहाँ से आया है वहीं चला जा वरना तुझे अभी योग की अग्नि से भस्म करता हूँ। श्रीविष्णु महाराज हंसे और कहने लगे कि बच्चा है जब तक अपने विचार से अपने कर्मों से न रुके तो किसी का कथन क्या लाभ पहुँचा सकता है। यही कारण है कि सुनते २ तो आयु व्यतीत हो जाती है पर लाभ अपने ही विचार से होता है।

७५—एक रोज़ इर्शाद हुआ, कि एक व्यक्ति हाथ में रुपया लिये दुकान २ पर कहता फिरता था कि रुपये का कुछ दे दो। हर एक दुकानदार अपनी २ बेचने की वस्तुओं के विषय में पूछता कि यह दे दें या वह दे दें परन्तु वह यही कहता था कि कुछ दे दो। जब दिन भर फिरते २ हो गया तो किसी दुकानदार ने बुला कर कहा कि रुपया हमको दो, हम तुमको कुछ देंगे और इससे रुपया लेकर दस बारह छोटे मुँह की मिट्टी की हंडियाँ अन्दर से निकाल लाया। सब खाली थीं, केवल एक या दो में दाल आदि कोई वस्तु डाल रखी थी। पहले खाली हंडियों में हाथ डलवा कर उससे पूछा कि इनमें क्या है, वह व्यक्ति कहता गया कि कुछ नहीं, कुछ नहीं। जब कई बार ऐसा

[एकसौएक

हो गया तो एक बार वस्तु वाली हंडिया में हाथ डलवा कर पूछा तो उसने उत्तर दिया कि इसमें तो कुछ है। उसने वही हंडिया खरीद दार के सुपुर्द की और कहा कि कुछ है तो ले जाइये। खरीद-दार ने जब हंडिया लेकर गौर से देखी तो पता चला कि उसमें कंकर दाल आदि कुछ वस्तुयें मिली हुई थीं उनको देखकर उसने हांडी को पटक दिया और कहने लगा कि कुछ भी नहीं। इसी प्रकार जो लोग योग, अभ्यास, तपस्या, त्याग, भक्ति, वैराग, आदि करते हैं, अन्त को उसका फल पाते हैं। उनको नाना प्रकार की सिद्धि शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं विचार करने लगते हैं और समझ बैठते हैं कि अब कुछ मिल गया और हो गया, परन्तु जब अद्वैत सागर में डुबकी लगाते हैं तब देखते हैं कि जो कुछ हुआ वह कुछ नहीं।

७६—एक रोज़ इर्शाद हुआ कि यह आत्म-विचार मुक्ति का देने वाला है कि मैं क्या हूँ और यह संसार क्या है और संसार कहाँ से उत्पन्न हुआ है। ऐसा विचार करने से मालूम होगा कि यह शरीर पांच तत्व का है सो मैं नहीं, क्योंकि शरीर जड़ है और कर्म इन्द्रियाँ भी जड़ हैं। जैसे शरीर है वैसे ही उसके अंग हैं और यह ज्ञान इन्द्रियों से कर्म करते हैं। सो ज्ञान इन्द्रियाँ भी जड़ हैं। मन से मन की चेष्टा होती है सो वह भी जड़ है। इसमें संकल्प विकल्प बुद्धि से है, सो बुद्धि भी जड़ है। इसमें निश्चय चिन्तना अहंकार से होती है और अहंकार भी जड़ है। क्योंकि इसमें अहंग चेतना से होती है। वह चेतना जीव से होती है, वह जीव भी मैं नहीं क्योंकि जीव स्फुरण रूप है और मेरा रूप अफुरण, सदा उदय रूप और चिन्मात्र है जो अनन्त और अविनाशी है।

७७—एक रोज़ इर्शाद हुआ कि महात्मा जड़ भरत सदा चुप रहा करते थे जब उनके पिता ने बहुत हठ किया तो पहले आप हंसे और फिर रोने लगे। रोने का यह कारण कि शोक, मैंने अपनी बुद्धिमानी से कुछ न पाया, बहुत से वेद शास्त्र पढ़े, पंडित हुआ, वास्तविकता का ज़रा भी पता न चला। हंसने का कारण यह है कि अपने आप सब द्वैत के भ्रम दूर हो गये और फिर अपने पिता को इस प्रकार उपदेश करना आरम्भ किया कि समस्त

नारायण ही नारायण हैं। तुम्हारा आदि कोई नहीं जानता कि कहाँ से है। न अन्त का पता, न इस आदि और अन्त के मध्य में तुमने मालूम किया कि तुम कौन हो। जब भूत, भविष्य, वर्तमान किसी काल में नहीं तो व्यर्थ ही तुम कर्ता बनते हो। यदि तुम अपने को जीव मानते हो तो यह शरीर जीव से है। फिर वर्ण और आश्रम तुम्हारा क्या है और यदि जीव से वर्ण का सम्बन्ध कुछ नहीं तो धर्म अधर्म कहाँ है। धर्माधर्म तो उसी समय तक है जब तक कहता है कि मैं ब्राह्मण हूँ, क्षत्रिय हूँ, क्योंकि चाण्डाल का जो धर्म है ब्राह्मण के लिये वही अधर्म है। जिसने वर्णाश्रम को असत् समझा तो धर्म और अधर्म कहाँ रहा। ये भले बुरे कर्म तो शरीर से प्रकट होते हैं। शरीर को अग्नि में जलाया अथवा पृथ्वी में गाड़ दिया, जब भलाई बुराई का कर्ता ही मिट्टी हो गया तो फल शेष कहाँ रहा और किसको मिलेगा। मृत्यु के उपरान्त स्वर्ग नर्क को जाना या पुनर्जन्म और आवागमन का होना यह भी केवल भ्रम है तो परमात्मा का क्या नाम। उसका कहाँ आना और किधर जाना। आने जाने वाला कौन है, ईश्वर का आना जाना कहाँ वह तो वायु के समान व्यापक है। समस्त संसार में एक आत्मा है। जिसने सार वस्तु को ग्रहण किया उसको कौन हानि पहुँचा सकता है। भजन और स्वरूप का जानना अहंकार अर्थात् अहं भाव को दूर करना है। शरीर आदि का अहंकार असत् है और सदा रहने वाला परमात्मा सत्य है। मुझसे यह दोनों भिन्न हैं। विचार से सत्य को असत् से पृथक् करना आवश्यक है। अहंकार के अर्थ हैं मैं अमुक हूँ, मेरा यह शरीर है। जब मैं न रहा तो फिर शरीर और जीव को भिन्न २ मानने वाला कौन है। अहंकार का अस्तित्व अर्थात् आपे को त्याग करने का अर्थ है नारायण पर निश्चय करना। जब नारायण पूर्ण है तो कौन किस की शरण में जावे। देखो, प्रत्यक्ष व्यवहार में जब कोई किसी से मित्रता करता है, जब तक उससे किसी बात का छुपाव नहीं, तब तक परस्पर मित्रता है, किंचित भी अन्तर आने से आवरण पड़ जाता है। उस अन्तरयामी से जो सबके अन्दर बाहर का ज्ञाता है अर्थात् साक्षी है, मित्रता करना और अहंकार को बीच में लाना अन्तिम ध्येय तक कैसे पहुँचा सकता है। असत् कहने और सत का चिह्न न देने का यह कारण है कि असत् को

सत् बतलाता है, सत को कौन प्रकट करे। इसलिये जो कोई असत् कहता है वही सत का परायण है। न जाने मन के मारने से क्या तात्पर्य है मन का स्थान कहाँ है जहाँ जाकर मारा जावे। यदि सामने आ जावे तो मारने की शक्ति किसको है क्योंकि मारने का अभिमानी तो मन ही है। योग दो आकारों में होता है। निराकार तो एक है उसमें योग करने वाला कौन है। योग की सहायता से एक शरीर को छोड़कर दूसरे को स्वीकार कर सकता है। ज्ञान की सहायता से इस शरीर को छोड़कर सब जगह पूर्ण हो सकता है। मैं वह हूँ जिससे विष्णु, ब्रह्मा, महेश प्रकट हुए हैं क्योंकि तीनों देवताओं का सत्, रज, तम से तात्पर्य है इन तीनों का समुच्चय प्रणव माया है और वह माया यह शरीर है। इसका द्रष्टा मैं हूँ। प्रणव मृगतृष्णा नहीं, परन्तु प्रणव का त्याग ऐसा है जैसे कोई मृगतृष्णा को जल समझ कर उससे पार होने के लिये शरीर से वस्त्र उतारना चाहे। वही लोग ज्ञान रूपी वस्त्र से रहित हैं जो ऐसा विचार करते हैं। जो मनुष्य हिमालय में जाकर तन गलाते हैं वह केवल अधूरा विचार है। यह तन तो मनोभाव से उत्पन्न होता है। विचार और ज्ञान रूपी अग्नि ही से जलेगा। यह जो कहता है कि गुरु कृपा और उनकी विशेष दृष्टि से अहंकार दूर हो जाता है यह केवल अपना ही भाव है। अपने भाव से अहंभाव उत्पन्न होता है और अपने ही विचार से दूर हो जाता है। यदि कोई कहे कि मैं आदि हूँ या समस्त संसार मेरा स्वरूप है, यह भारी भूल है क्योंकि इसके कहने से पहले क्या न था जो अब हुआ है। आत्मा में संसार कहाँ है जिसे अपना स्वरूप कहा जाय। बुद्धिमान बुलबुले या तरंग पर ध्यान नहीं देते। वह जानते हैं कि केवल जल ही है। यह नाम सच्चिदानन्द ब्रह्म आदि भी इसी प्रकार से है। जैसे गुरु चेले का पहला नाम बदल कर दूसरा रख देते हैं किन्तु जो कुछ कहने सुनने में आता है सब भ्रम ही भ्रम है। माया और ईश्वर ११ के अंक के समान हैं। यदि बुलबुला दरिया से उत्पन्न हुआ है, बुद्धिमानों के समीप वह भी वास्तविक दरिया है। इसको झूठ किस प्रकार समझा जाये। यदि सब जगह वही है तो मैं उससे भिन्न नहीं हूँ, किन्तु वही हूँ। अपने स्वरूप को जानना ही संयोग है। यदि न जाने तो भी उससे भिन्न नहीं अर्थात् वियोग नहीं।

७८—एक रोज़ इर्शाद हुआ, कि एक अघोरी महात्मा बिना टिकिट रेल में बैठ गये। स्टेशन पर पहुँच कर जब रेल से उतर कर बाहर जाने लगे तो टिकिट बाबू ने रोका और टिकिट मांगा, महात्मा ने कह दिया कि बाबा हम तो इसी प्रकार से आये हैं। टिकिट विकिट हमारे पास कुछ नहीं है। टिकिट बाबू ने कहा कि इस प्रकार तुम गाय भी खा लोगे ? उन्होंने उत्तर दिया कि यदि इसी प्रकार आ जायेगी तो खा भी लेंगे। इस बात पर टिकिट कलैक्टर बहुत अप्रसन्न हुआ और उन्हें पुलिस के सुपुर्द कर दिया। एक अंग्रेज़ पादरी ने इस वार्तालाप को सुना और विचार किया कि इस महात्मा की परीक्षा लेनी चाहिये कि इसकी करनी कथनी के अनुसार है या नहीं। टिकिट कलैक्टर से कहकर उस महात्मा को छुड़ा लाया। अपने साथ बंगले पर ले गया और अपने खानसामां के हाथ का बना हुआ गाय और सूअर आदि का मांस और बहुत सी ऐसी वस्तुयें मंगा कर एक मेज़ पर चुन दीं, और महात्मा जी को खाने के लिये कहा। महात्मा जी समझ गये कि यह परीक्षा निमन्त्रण है। बाहर जाकर थोड़ा सा मैला उठा लाये और उसको खाने के बीच तश्तरी में रख लिया। यह देख कर तो साहिब बहादुर बहुत चकराये और बोले बाबा तुमने तो सब खाना नापाक कर दिया। महात्मा बोले कि साहिब आपने सब वस्तुयें अपनी इच्छा अनुसार रख दीं, हमने कुछ भी न कहा, और हमने एक वस्तु अपनी रुचि की रखी तो आप ऐसे चौंक उठे, भला यह तो बताइये कि जितना मांस गाय आदि के शरीर में होता है यह कहाँ से आता है। सबकी पालना बनस्पति से होती है या नहीं और यह मैला मनुष्य के शरीर से उत्पन्न होता है और यह भी बनस्पति से उत्पन्न हुआ है। फिर यह क्या बात है कि एक से ऐसी रुचि और दूसरे से ऐसी घृणा। साहिब बहादुर बुद्धिमान थे, सब बात समझ में आ गई और उन्होंने अघोरी से उपदेश प्राप्त किया।

७९—एक रोज़ इर्शाद हुआ, कि दो मनुष्यों की परस्पर बहुत मित्रता थी। इनमें से एक तो पुण्य आत्मा, धर्मशील और ईश्वर भक्त था। दूसरा कुकर्मी, दुष्ट और पाखण्डी था। धर्मात्मा को सदा यह ध्यान रहता था कि किसी प्रकार अपने मित्र को भी शुभ मार्ग पर लाना चाहिये।

उचित अवसर पाकर उसको शिक्षा देना आरम्भ किया और कहा कि तुमने सारी आयु व्यभिचार में व्यतीत कर व्यर्थ खो दी, परन्तु तुम्हारे हाथ कुछ न आया, यदि ईश्वर को एक घण्टे भर भी याद कर लो तो तुमको मिल जाये। यह बात सुनकर उसको बड़ा आश्चर्य हुआ, और उसने कहा हम तो समझते थे कि भक्ति कोई बड़ा कठिन कार्य है। हम जैसे व्यभिचारी से क्या हो सकता है यदि एक ही घण्टे में ईश्वर प्राप्त होता है तो लाओ पहिले इसी काम को करलें और अपने मित्र के उपदेश के अनुसार भजन करना आरम्भ किया। क्योंकि समस्त बुरे कामों का भोग पूरा हो चुका था कुछ ऐसी वृत्ति लगी कि घण्टे भर ही में श्रीकृष्ण जी महाराज के दर्शन हुए। उनके अनुपमरूप की छवि देखकर बेसुध हो गया और लपक कर उनका हाथ पकड़ लिया और अपने मित्र को पुकारने लगा कि भाई परमेश्वर मिल गया। इतना कहना था कि भजन से चौंक उठा और क्या देखता है कि श्रीकृष्ण जी तो कहीं नहीं, केवल अपना एक हाथ ही दूसरे हाथ में पकड़ रखा है। उस समय उसको विचार उत्पन्न हुआ कि बन्दा और परमेश्वर सब तेरे ही अन्दर हैं। बाहर कुछ नहीं। तूने व्यर्थ ही अपने को छलिया और व्यभिचारी समझ रखा है और फिर शुभ मार्ग पर लग पड़ा।

सरापा आरज़ू होने ने बन्दा कर दिया मुझको।
वरना हम ख़ुदा थे ग़ार दिले बेमुद्दआ होता॥

८०—एक रोज़ इर्शाद हुआ, कि (१) अविद्या (२) असमता (३) राग (४) द्वेष (५) अभिनिवेश ये ५ क्लेश हैं (१) अविद्याः—इन्द्रियों और संस्कारों के नक्श से अविद्या उत्पन्न होती है जो अशुभ है और ज्ञान के विरुद्ध है। वास्तविक ज्ञान को विद्या कहते हैं। जिन वस्तुओं की उत्पत्ति कारण पर निर्भर हो वह चिरस्थाई अर्थात् नित्य नहीं होती और जो विद्यमान हो और किसी कारण पर निर्भर नहीं वह चिरस्थाई अर्थात् नित्य है। उसका कारण या परिणाम चार प्रकार का है। (१) समवायी अर्थात् आकाश परिमित है। (२) संयोगी अर्थात् शरीर त्वचा वाला है। इसका सम्बन्ध नित्य है। (३) एकार्थ समवाई एक वस्तु में दो का रहना जैसे कार्य स्पर्श, कर्म का अंग है। (४) विरोधी, जैसे बरसी हुई वर्षा होने वाली वर्षा का विरोधी चिह्न

है। लिंगक, लिंग और लिंगी के सम्बन्ध से जो ज्ञान होता है। व्याप्ति, जो प्रमाण के योग्य हो, जिसे प्रमाणित करना हो और जिससे सिद्ध किया जाय। इन दोनों या केवल एक प्रमाणित कर्ता के निश्चित गुण के एक साथ होने को व्याप्ति कहते हैं जैसे धुंए और आग का एक साथ होना, आग बुझ जाने पर धुआँ बहुत काल तक स्थिर रह सकता है, यह व्याप्ति है। (२) असमता अर्थात् आत्मा से भिन्न बुद्धि को भिन्न न समझना। (३) राग (सुख से रुचि) (४) द्वेष, दुख से घृणा करना अर्थात् दूर रहने की इच्छा होना। (५) अभिनिवेष, मृत्यु के कष्ट का भय अभिनिवेष कहलाता है क्योंकि प्राणी मात्र की यही इच्छा है कि मैं सदा जीवित रहूँ। इन क्लेशों को योगाभ्यास और विज्ञान से दूर करे और ब्रह्म को प्राप्त करके मुक्ति के पूर्ण आनन्द को भोगना चाहिये।

८१—एक रोज़ इर्शाद हुआ, कि श्री शिव जी महाराज ने श्री विष्णु जी से कहा कि मैं समस्त संसार को अपना ग्रास करता हूँ, और जिससे अहंकार दूर हुआ, वह मुझको ग्रास करता है। इस विषय में तुम्हें एक इतिहास सुनाता हूँ। एक समय भरत नामक एक राजा था जिसके नाम से यह देश भारतखण्ड नाम से पुकारा जाता है। वह ब्राह्मण और ऋषियों की तन मन से सेवा और दीन दुखियों का सहायक था। जब भक्ति की उमंग मन में तीव्र हुई, राज पाठ लड़कों के सुपुर्द करके बन में चला गया और सैर करते २ ऐसे रमणीक स्थान पर पहुँचा जहाँ सन्तों का समूह अपने २ साधनों में लगा हुआ था, कोई जप में कोई ध्यान में मग्न। एक आत्म विचारी सेवकों को ऐसा उपदेश कर रहा था कि न मैं हूँ, न तुम हो, न यह संसार है। केवल विष्णु चैतन्य है। भरत ने इसको बड़े शिष्टाचार से नमस्कार की और कहने लगा कि महाराज मुझे इस संसार से वैराग्य हो गया है अब मैं आपकी शरण आया हूँ। मुझे कुछ ज्ञान उपदेश करें क्योंकि वैराग्य द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है वह थोड़े काल में पूर्ण प्रभाव डालकर अहंकार और अहमता से छुटकारा दे देता है।

सन्त ने कहा कि राजन ज्ञान यही है कि प्रत्येक वस्तु में एक विष्णु

को निश्चय कर। भरत ने यह सुन कर संसार की समस्त वस्तुओं में ईश्वर को ही निश्चय किया और आनन्द से वन में निवास करने लगा। एक दिन विचार करते २ यह सन्देह उत्पन्न हुआ कि यदि प्रत्येक वस्तु में विष्णु ही है तो मैं कौन हूँ ? और जो अपने को भी विष्णु ही समझूं तो यह यथार्थ नहीं। मैंने विष्णु को जानना है। मैं जानने वाला मालूम नहीं कौन हूँ। इसलिये फिर उसी सन्त के पास पहुँच कर अपना सन्देह प्रकट किया। उसने कहा कि राजन् अपने को ब्रह्म स्वरूप विचार कर। राजा पुनः विचार करने लगा। जब कुछ सन्तोष न हुआ तो प्रश्न उठा कि जैसे मैंने विष्णु को निश्चय किया था वैसे ही आपकी आज्ञा से ब्रह्म को जाना, परन्तु इससे अब तक भी पहचान नहीं हुई कि मैं कौन हूँ। अर्थात् जिसने अपने को ब्रह्म स्वरूप जाना वह कौन है ?

सन्त जी ने उत्तर दिया कि इससे आगे वाणी की गति नहीं मैं क्या उत्तर दूँ। जीव, ईश्वर, ब्रह्म तीनों नाम कथन मात्र हैं। निर्विशेष में कहने और सुनने का काम नहीं। अब तुमको विज्ञान प्राप्त हुआ। आनन्द से अपने में मग्न रहो। यह जो कहते हो कि मेरा हाथ है, यह मेरी आँख है, यह देखना अर्थात् जो कुछ दृष्टि से देखा जाता है, असत्य है। वास्तविक देखना नहीं है, जहाँ दृष्टि की पहुँच नहीं, और वह जो देखना है वही न देखना है क्योंकि इसका आदि और अन्त अव्यक्त है अर्थात् कहने से बाहर है और यही तेरा रूप है। राजा ने कहा यदि मैं अव्यक्त हूँ और यही अव्यक्त "मैं" रूप है तो जब मैं इच्छा करता हूँ कि इस समय अमुक वस्तु हो जाये तो क्यों नहीं होती ? सन्त जी ने कहा, अय राजन् ! इच्छा चित्त से उत्पन्न होती है और तुम अचित्त हो, फिर किस प्रकार इच्छा पूर्ण हो क्योंकि निरञ्जन से जो कुछ उत्पन्न हो वह भी निरञ्जन है। भरत यह सुन कर स्वरूप में लीन हुआ। अय विष्णु एक समय धर्मराज ने काल को आज्ञा दी कि भरत को मेरे पास ले आओ। काल आज्ञा पालन के लिये भरत के पास गया, देखा कि भरत के बाहर भीतर भगवान ही का प्रकाश है, भरत का नामोनिशान भी नहीं। अचम्भित हुआ, अब मैं किस वस्तु को उसके शरीर से प्रथक् करूँ और क्या मुख लेकर धर्मराज की सभा में पहुँचूं। अन्त में धर्मराज के पास जाकर जो

कुछ उचित था वर्णन किया और कहने लगा कि जब तक तू सन्तों को नष्ट नहीं करता तेरी आज्ञा का प्रभाव कभी नहीं बैठेगा। यह समुदाय सदा लोगों को तेरे चंगुल से स्वतन्त्रता दिलाता है। धर्मराज यह सुनकर काल के सहित मेरे पास आया और कहा कि महाराज, भरत हमारे हाथ से गया। जल, अग्नि उसके शरीर का कुछ नहीं कर सकता। कहो अब हम क्या करें। तब मैं स्वयं भी भरत के पास गया और देखा कि शरीर के अभिमान से रहित "मैं ब्रह्म हूँ, ब्रह्म हूँ" उच्चारण कर रहा है। मैंने कहा राजन् तू धन्य है। उसने कुछ उत्तर न दिया। मैंने जाना कि अब यह भरत नहीं। फिर प्रश्न किया तू कौन है। उसने उत्तर दिया कि बड़ा अचम्भा है कि शिव तो आप हैं और यह पूछता है कि कौन है? तेरे बिना कौन है जो अपना नाम प्रकट करे और जो तूने यह जाना है यह भरत है यह भरत कोई नहीं। भरत को काल ने खाया, और मैंने काल को भक्षण किया। क्योंकि भरत अज्ञान को कहते हैं उसको काल रूपी ज्ञान ने खाया और उस कालरूपी ज्ञान को मैंने नष्ट किया। इसलिये विज्ञान रूप हूँ। मैंने कहा कि मैं तेरे पास आया हूँ, कुछ सम्वाद कर।

कहने लगा कि निकट व दूर मेरे में कहाँ हैं, जो तुझे कुछ कहूँ। स्वरूप में स्थित हूँ और स्वयं प्रकाश हूँ, हे विष्णु जिसने देह का अहंकार छोड़ दिया मेरी सामर्थ्य नहीं जो उसका नाश करूँ।

८२—एक रोज़ इर्शाद हुआ, कि विष्णु जी महाराज ने शिव जी से कहा कि मैं संसार की पालना करता हूँ परन्तु जो कामना रहित हैं वे मुझको पालते हैं। इस विषय में एक इतिहास सुनाता हूँ।

एक राजा का बेटा आठों पहर विष्णु, विष्णु रटा करता था। राजा ने कहा हे पुत्र! तुमको तो दिन रात विष्णु के उच्चारण से काम है और मैं वृद्ध हो गया हूँ। यह शरीर कुछ दिनों का महमान प्रतीत होता है। भला राज प्रबन्ध कैसे होगा?

अतः अब तू इस काम को त्याग कर, राजकीय प्रबन्ध में अपने मन को लगा। प्रत्येक समय विष्णु विष्णु कहना और भूत की तरह उसके पीछे

भागने से क्या लाभ। देख ! जब कोई किसी को बार बार बुलाता है तो वह क्रुद्ध होता है। क्या विष्णु दिन रात बुलाने से तुझसे अप्रसन्न न होगा ?

बालक ने कहा पिताजी उसको इसीलिये ईश्वर कहते हैं कि वह औरों के समान अधिक पुकारने से नाराज नहीं होता। जितना ही उसको पुकारा जाय, वह उतना ही अधिक प्रसन्न होता है। सारांश बहुत काल तक राजा ने नाना प्रकार के उपदेशों से उसे राम नाम उच्चारण करने से रोका और अनेक यत्न से राज काज में मन लगाने की प्रेरणा की, परन्तु जिसके मन में आरम्भ से ही भक्ति रूपी फुलवाड़ी हरी भरी हो वह संसार के बाग़ के भ्रमण को कब चाहता है। कहाँ वह पुष्प जो हंसता, खिलता, सदा बहार हो, और कहाँ वह जो वियोग के चंगुल में फंसा हुआ हो, एक दिन मैंने स्वयं ही उसके पास जाकर समझाया बुझाया कि अय वत्स ! मैं तेरी भक्ति से अति प्रसन्न हूँ। अब तू राज सिंहासन पर विराजमान होकर शासन सुख का आनन्द भोग और राष्ट्र के कार्य भार का उत्तर दाता मैं हूँ, परन्तु उसने मेरे वचनों को भी स्वीकार न किया और यही कहता रहा कि तेरे से कौन सी वस्तु अच्छी है जो तुझे छोड़कर उसे ग्रहण करूँ। यदि तेरे नाम के बदले दोनों लोकों का राज्य भी प्राप्त हो तो कदापि स्वीकार न करूँगा। जब उसके निश्चय को मैंने इस प्रकार परिपक्क देखा तो वापस लौट आया। धीरे धीरे उसकी यह दशा हुई कि शहर को छोड़ कर बन में घूमने लगा और समस्त सांसारिक वस्तुओं को उसने विष्णु रूप जान लिया।

अचानक उस बन में दत्तात्रेय अवधूत, जो मेरा रूप हैं आये और उस लड़के से पूछने लगे कि तू कौन है। उसने उत्तर दिया कि मैं विष्णु का दास हूँ। अवधूत ने कहा कि तुमने सब सांसारिक वस्तुओं को विष्णुरूप माना तो स्वयं दास कैसे हुआ। अय वत्स ! इससे कभी मुक्ति न होगी कि मैं भक्त हूँ और मैंने विष्णु को देखा है। विष्णु को देख लिया और अपने आपको न जाना इससे क्या लाभ। जिस शरीर को तूने जाना है कि मैं विष्णु का दास हूँ उसके मोह को छोड़कर सच्चिदानन्द को जो तेरा पद है, प्राप्त हो नहीं तो यह शरीर तुमको एक दिन छोड़ देगा और तुझे स्वरूप की वास्तविकता से रहित रहकर फिर जीवन मरण का क्लेश सहना पड़ेगा।

इसीलिये नाम व रूपसे दृष्टि उठाकर अपने को विष्णु रूप जानना चाहिये। लड़के ने कहा कि मैंने जाना कि मैं ही मैं हूँ। फिर किसी से दृष्टि उठाने किसी पर डालने की क्या आवश्यकता? अवधूत ने उत्तर दिया कि स्वरूप से कुछ भिन्न हो तो देख ले। लड़का यह सुनकर स्वरूप में लीन हुआ। हे शिवजी! उस समय फिर मैं उसके पास पहुँचा और कहा कि हे वत्स तू अपने शरीर को मेरे अर्पण कर, मैं तेरा पालन करूँगा। उसने कहा हे विष्णु! मेरा पालन कौन करे मैं तेरी पालना करता हूँ, मेरा प्रकाश मेरे से है और अव्यक्त हूँ। यह सुनकर मैं अचम्भित हुआ कि देखो यह व्यक्ति दास २ कहता हुआ आप ही आप हो गया। मैंने पूछा तेरा रूप क्या है? कहने लगा मेरा रूप तू ही तू है। अगर तेरे में कोई भेद हो तो हो, मैं अभेद हूँ। फिर उससे कहा कि मुझसे कुछ वरदान मांग। उसने उत्तर दिया कि संसार ईश्वर के आधीन है और लेना स्वभाव जीव का है। जो इन दोनों से प्रथक् हो वह क्यों मांगे। यह सुनकर मैं अपने स्थान पर लौट आया। बस जो लोग निस्वार्थ हैं, वह निसन्देह मेरा पालन करते हैं।

८३—एक रोज़ इर्शाद हुआ, कि प्रवृति की जड़ ये हैं: मोह, इच्छा, द्वेष और कर्म। इस प्रवृत्ति से अहंकार, संग, संशय, अभिसंल्पव, अभ्युष्पात, विप्रति, विशेष और अनुपाय उत्पन्न होते हैं। (१) अहंकार उस बुद्धि को कहते हैं जो मनुष्य में यह भाव उत्पन्न करती है कि जाति, रूप, धनाढ्यता, बुद्धि, संस्कार गुण, विद्या, वंश, आयु, वीर्य और स्वभाव सभी कुछ मुझ में हैं। (२) संग, मानसिक, वाचिक और कायिक जो मुक्ति को रोक देते हैं, यह आसक्ति भी कहलाते हैं। (३) संशय:- यह संशय उत्पन्न हो जाना कि कर्म फल, मोक्ष, पुरुष, प्रतिभा आदि हैं या नहीं। (४) अभिसंल्पव:—मैं अनित्य अर्थात् अकेला सृष्टा अर्थात् बनाने वाला स्वभाव सिद्ध यह शरीर इन्द्रियों और बुद्धि की राशि हूँ। समस्त दशाओं में इन बातों को जानना। (५) अभ्युष्पात, माता, पिता, भाई, स्त्री, सन्तान, सम्बन्धी, मित्र, दास यह सब मेरे हैं, और इन सबमें मैं हूँ। (६) विप्रति, कार्य व अकार्य, लाभ व हानि, अच्छा या बुरा, को वास्तविक के विरुद्ध समझना। (७) विशेष! ज्ञान, अज्ञान, प्रकृति, विकार, प्रवृत्ति और निवृत्ति की वास्तविकता को जानना। (८) अनुपाय! प्रोक्षण

(झिड़कना) अनशन अर्थात् न खाना, अग्नि होत्र, त्रिस्नान, अभयोक्षण अर्थात् यज्ञ के बर्तनों को धोना, आवाहन अर्थात् बुलाना, यजन (यज्ञ करना) याजन अर्थात् यज्ञ कराना, याचन और पानी या आग में प्रवेश करने के कार्यों को अनुपाय कहते हैं। यह पुरुष बुद्धि और स्मृति से रहित इन बातों में फंस कर सत्व दोष और शरीर दोष का केन्द्र बन कर समस्त दुखों की जड़ बन जाता है और अहंकार आदि दोषों के पंजे से छूट नहीं सकता। यह प्रवृत्ति पापों की मूल है।

८४—एक रोज़ इर्शाद हुआ, कि निवृत्ति ही मोक्ष है। यही श्रेष्ठतर विश्वास की शान्त अवस्था है। यही अक्षर और यही ब्रह्म है। यह युक्तियें मुक्ति के इच्छुकों के लिये लाभदायक हैं। प्रथम गुरु की सेवा में उपस्थित होकर दीक्षा लेना, क्योंकि बिना परिचय प्राप्त किये किसी कार्य को आरम्भ कर देना भय जनक और हानि का कारण होता है। फिर धर्म शास्त्र का अध्यन चाहिये ताकि गुरु की बताई हुई बातों का निश्चय हो जाय और उनके उपदेश से वह बातें रहस्य सहित पूर्णरूप से सुगमता से समझ में आ सकेंगी। उसके बाद उनके भावार्थ का जानना, उनका आश्रय लेना और उसी के अनुसार आचरण करना। भद्र पुरुषों की सेवा करना और दुष्टों के संग से बचना और उनसे सम्बन्ध विच्छेद करना, परन्तु उनसे झगड़ा न करना, सत्य बोलना, सबका भला करना, कड़वे वचनों का परित्याग। समयानुसार उचित और युक्तिपूर्ण बात करना, समस्त प्राणिमात्र को अपने समान जानना। स्त्रियों का भाव दूर करना यानि उनका चिन्तन न करना। गृहस्थियों के लिये यह काफी यानी पर्याप्त है। साधुओं को चाहिये कि सम्पूर्ण सम्बन्धों का त्याग कर दें। केवल कोपीन आदि गेरुए वस्त्र धारण करें और दण्ड कमण्डल आदि जो भेष के अनुकूल वस्तुयें हैं उनको रखें। मन और इन्द्रियों का दमन करना, समय चूक जाने का भय, सब कुछ त्याग करने में सुख अनुभव करना यह मुक्ति का मार्ग है। यह साधारण बातें हैं इनसे विकारी मन भी ऐसा शुद्ध हो जाता है जैसे वस्त्र से पौंछने से दर्पण साफ हो जाता है। कहने को तो यह बहुत सी बातें हैं, परन्तु मनुष्य इनमें से एक नियम को भी दृढ़ता से ग्रहण कर आचरण करे तो शेष सब स्वयं पूरे हो जाते हैं। दृष्टान्त है कि

एक ही साधे सब सधें, सब साधे सब जायें।
कबीरा सीचे मूल को, फूले फलै अघाय॥

८५—एक रोज़ इर्शाद हुआ, कि शुद्ध चिन्मात्र अद्वैत में जो अहंग समवेदना उठती है उससे स्वरूप से गिरता है यही अज्ञान है—

इसकी सात भूमिका है—(१) असोच जागृत: जिसमें जीव पूर्ण अज्ञानता में फंसा हुआ होता है, जगत् को ही सत्य समझता है। शरीर के ही पालन को अपना कतर्व्य जानता है (२) जागृत जिसमें जीव को देह अभिमान, जाति अभिमान, विद्या अभिमान, रूप और बल का अहंकार विशेष होता है। (३) महा जागृत इसमें जीव को अहंकार होता है कि लोक परलोक में मैं कुछ कर सकता हूँ मुझमें अमुक प्रकार की कला कौशल है। मैं गुण और विद्या में पूर्ण हूँ, मुझे अमुक पर अधिकार है। (४) जागृत स्वप्न जिसमें जीव ऐसा समझता है कि जो कुछ में जानता हूँ और अनुभव करता हूँ वह सत्य है, और दूसरे जो कुछ करते हैं वह सब असत्य है। ऐसे मनुष्य को ऐसा समझना चाहिये जैसे ज्वर के वेग के कारण कोई मद्य को पानी समझता है। (५) स्वप्न जागृत भूमिका—स्वप्न जागृत वाला जो स्वप्न देखता है उसको ज्यों का त्यों स्मरण रखता है। (६) स्वप्न भूमिका—इसमें प्राप्त हुआ जीव देखे हुए स्वप्न को भूल जाता है। (७) सुषुप्त भूमिका—गाढ़ निद्रा के समान अचेतनता को कहते हैं। योग वसिष्ठ के उत्पत्ति प्रकरण में इनको ऐसे वर्णन किया (१) आदि शुद्ध चिन्मात्र अशब्द पद तत्त्व से चैतन्य होने का अहंग है उसका भविष्यत नाम जीव होता है और वह सब पदार्थों का बीज रूप है उसको बीज जागृत कहते हैं, (२) उसके अन्दर जो अहंग और यह मेरा आदिक प्रतीत दृढ़ हो और चिन्मात्रों में भासे उसका नाम जागृत है, (३) यह है मैं हूँ, आदिक शब्दों से तनमय होना और जनमान्तर में बैठे हुए जो मन फुरता है मनोराज में वह फुरना दृढ़ हो भासना और दूसरा चन्द्रमा सीपी में रूपा मृग तृष्णा का जल आदिक विपरिय भासना जागृत स्वपन है, (४) नींद में जब मन फुरने लगता है और उससे भाँति भाँमि के पदार्थ भासने लगते हैं तो जब जाग उठता है तब कहता है कि मैंने थोड़े समय में बहुत से पदार्थ देखे और नींद में जो पदार्थ देखे थे उनको असत्त रूप जागने

पर जानने लगता है उस नींद के समय में मन के फ़ुरने का नाम स्वप्न है, (५) स्वयं आये और उसमें यह प्रतीत दृढ हो जाये कि बहुत समय बीत गया उसका नाम महा जाग्रत है (६) महा जाग्रत में अपना शरीर देखा और उसमें मैं और मेरा भाव दृढ़ हुआ और आपको सत्त जानकर जन्म मरण आदिक देखे, देह रहे या न रहे उसका नाम स्वप्न जाग्रत है वह स्वप्न महा जाग्रत रूप को प्राप्त होता है, (७) इन छै अवस्थाओं का जहाँ अभाव हो जड़ रूप और भविष्यत् हो उसका नाम सुषोप्ति है इस अवस्था में घास पत्थर वृक्ष आदिक स्थित है।

८६—एक रोज़ इर्शाद हुआ कि स्वरूप में जागने यानी शुद्ध चिन्मात्र में चैतन्य दृष्टा फ़ुरने से रहित होकर शिथिल होने का नाम ज्ञान है। ज्ञान की सात भूमिका यह हैं। (१) शुभ इच्छा, इसमें प्रवेश करने से शुभ कामना उत्पन्न हुआ करती है कि मैं सन्त जनों का संग करूँ और ब्रह्म विद्या के शास्त्रों का अध्ययन करूँ। अपनी अज्ञानता को दूर करने की इच्छा होती है। ज्ञान और मुक्ति प्राप्त करने की सच्ची अभिलाषा होती है। अपनी व्यतीत हुई आयु और किये हुए अशुभ कार्यों के ऊपर पश्चाताप होता है। कुसंगति से दूर भागता है। और शास्त्रानुसार शुभ कर्मों में प्रवृत होता है। (२) सुविचारणा इसमें मनुष्य उस समय प्रवेश होता है जब सत्संग और शुभ कर्मों को खोज कर उनमें प्रविष्ट हो जाता है। सन्तों और शास्त्रों के वचनों को विचारता है कि मैं कौन हूँ, और संसार क्या है। (३) समानता या तन्मानसा में पहुँचने पर संसार से वैराग्य, घृणा और उपराम हो जाता है। विषय वासना को मिथ्या और दुखदाई समझ कर उससे विरक्त हो जाता है, यह विचारता है कि मैं आत्मा हूँ और संसार मिथ्या है, और मुझमें कोई संसार नहीं। ऐसी भावना बार बार करता है। यानी विचार और शुभ इच्छा सहित तत्व का अभ्यास करना। (४) सश्रान्त या सतवाप्त इसमें पहुँच कर लोक परलोक सबसे वैराग्य करके सब प्रकार के सुखों को तुच्छ जानकर ईश्वर में निमग्न हो जाता है। जब आत्म भावना की दृढ़ता से आत्मा का साक्षात्कार होता है तब सम्पूर्ण वासना मिट जाती हैं और जब स्वरूप से उतर कर देखता है तब संसार भासता है, परन्तु स्वप्न की न्याईं जानता है इससे

वासना नहीं फुरती। (५) असंशक्त में पहुँच कर ईश्वर में और भी अधिक निमग्नता होती है। जब अवलोकन होता है तब आनन्द प्रकट होता है और जो आनन्द प्रकट हो उसमें बल से स्थित हो। (६) पदार्थ अभावनी में पहुँच कर ध्यान में ऐसा मग्न रहता है कि बड़े परिश्रम से दूसरे के जगाने से जागता है। जगत को भूल जाता है और भीतर बाहर से समस्त पदार्थ तुच्छ भासते हैं। (७) तुरिया—चित्त के दृढ़ होने का नाम तुरियाहै। इसमें पहुँच कर दूसरों के जगाने से भी नहीं जागता। गुप्त व प्रकट ब्रह्म में लय हो जाता है। जब तुरिया अतीत पद को प्राप्त होता है, तब परम निर्वाण हो जाता है।

अब पहिली तीन भूमिका जागृत अवस्था अर्थात् (आलमे नासूत) में शामिल हैं। इसमें श्रवण, मनन, निद्धिध्यासन करता है, और संसार की सत्ता भी दूर नहीं होती चौथी भूमिका स्वप्न की न्याईं समझनी चाहिये। इसमें संसार की सत्ता नहीं होती। यह "आलमें मलकूत" अर्थात् (स्वप्नावस्था) है। यह तत्व ज्ञानी की अवस्था है। पांचवीं भूमिका सुषुप्ति अवस्था है क्योंकि आनन्द घन में स्थित होता है। इसको आलमें जबरूत कहना चाहिये। यह गाढ़ निद्रा समझो। छटी स्थिति तुरिया पद है जो जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों का साक्षी हो जाता है। इसमें केवल ब्रह्म ही प्रकाशता है व निर्वाण पद में चित्त भी लय हो जाता है। इसमें जीवन मुक्त विचरते हैं। सातवीं भूमिका परम निर्वाण पद है इसमें ब्रह्माकार वृत्ति भी लीन हो जाती है। जहाँ वाणी की गति नहीं वहाँ चित्त नष्ट हो जाता है। उनके परे तूरिया पद है जिसमें विदेह मुक्त स्थित होता है। तीसरी भूमिका तक सब कामना निवृत्त होती हैं केवल एक आत्म पद की कामना रहती है उस अवस्था में शरीर छूट जाये तो और जन्म पाकर ज्ञान को प्राप्त होता है लेकिन चौथी भूमिका प्राप्त होकर शरीर छूटे तो फिर जन्म नहीं होता क्योंकि आत्म पद पाने से फिर कुछ पाने की इच्छा नहीं रहती चौथी भूमिका में स्वरूप प्राप्त होता है।

८७—एक रोज़ इर्शाद हुआ, कि ज्ञान दो प्रकार का होता है। एक परोक्ष कि ब्रह्म है, दूसरा अपरोक्ष कि "मैं ब्रह्म हूँ"। उदाहरणार्थ, किसी मनुष्य की टोपी हवा से उड़कर उसी मनुष्य के पाँव पर गिर पड़ी। वह इधर

उधर इसको ढूढ़ता है, परन्तु टोपी दृष्टि नहीं पड़ती। यदि कोई दूसरा व्यक्ति कह दे कि घबराओ मत टोपी तुम्हारे पास है। वह सुनकर निश्चय करे कि टोपी खोई नहीं है इसको परोक्ष ज्ञान कहते हैं। फिर वह व्यक्ति कह दे कि टोपी तेरे पाँव में पड़ी है, यह सुनकर उसने टोपी को देख लिया। यह अपरोक्ष ज्ञान है। ऐसा निश्चय होने पर वह "मैं ब्रह्म हूँ" कहने लगे तो यथार्थ है।

८८—एक रोज़ इर्शाद हुआ, कि ब्रह्म दर्शन दो भागों में विभक्त है सरयानी और उरयानी। प्रायः महात्माओं को सरयानी ही प्राप्त होता है अर्थात् पर्दे के पीछे होता है और विशेष तो इससे भी आगे बढ़कर उरयानी प्राप्त करते हैं। उसको संस्कृत में सविशेष और निर्विशेष भी कहते हैं। सविशेष या सरयानी दर्शन ऐसा है जैसे दुल्हा दुल्हन को विवाह के समय वस्त्र पहने और चादर ओढ़े हुए देखता है। और निर्विशेष या उरयानी दर्शन ऐसा है, जैसे एकान्त में संयोग के समय दुल्हा दुल्हन को देखता है। जहाँ पर न कोई पर्दा है और न विभिन्नता। दूरी है न रोक टोक।

८९—एक रोज़ इर्शाद हुआ कि परमात्मा का सम्बन्ध दो प्रकार का है, एक साधारण दूसरा विशेष। इन्द्रिय और शरीर के साथ जो सम्बन्ध है, वह साधारण है, और अन्तःकरण में जो उसका प्रादुर्भाव है वह विशेष है। इसका दृष्टान्त इस प्रकार समझना चाहिये कि स्वप्नावस्था में जो सम्बन्ध जीवात्मा का शरीर के साथ रहता है, वह सम्बन्ध साधारण है, और जागृत में जो सम्बन्ध है, वह विशेष है।

९०—एक रोज़ इर्शाद हुआ कि कुम्हार हज़ारों बर्तन एक साथ बनता है. और जब बर्तन तैयार हो जाते हैं तो उनमें से कई बर्तनों में तो घी भरा जाताहै, कुछ में रस और कुछ में शक्कर और कई मूत्र और विष्टा डालने के काम भी आते हैं, यद्यपि कर्म के आधार से ये भिन्न-भिन्न और अच्छे बुरे काम में लाये गये मगर वास्तव में अपनी-अपनी जगह और अपने समय पर प्रत्येक उपयोगी सिद्ध होता है। सब ही मिट्टी के बने हुए और उसी एक कुम्हार के हाथ के बनाये हुए हैं।

९१—एक रोज़ इर्शाद हुआ कि एक गीध [चील] एक चुहिया

को पकड़े हुए उड़ी जा रही थी, कि वह उसके मुंह से छूट पड़ी। वहाँ एक महात्मा भगवत् आराधना में मग्न थे। उन्होंने उसे उठा लिया और घर की ओर प्रस्थान किया। मार्ग में ध्यान आया कि घर के लोग चूहिया को देखकर हंसेंगे। इस कारण प्रार्थना की, कि हे भगवन् यह लड़की बन जाये। प्रभु की शक्ति से वह लड़की बन गई। महात्मा ने उसको अपने चेले के हवाले कर दिया कि तुम इसका पालन करो, जब बड़ी होगी देखा जायेगा। जब लड़की बड़ी हुई तो चेला उसको गुरु जी के पास लेकर आया। उन्होंने लड़की से पूछा कि तुम्हारा विवाह किसके साथ करें? उसने उत्तर दिया कि जो सबसे बलवान और तेजस्वी हो। महात्मा ने विचारा कि इस संसार में सूर्य सबसे अधिक तेजवान है इसलिये लड़की से कहा कि तुम उसका आराधन करो। लड़की ने सूर्य का आराधन किया, तो सूर्य ने आकर पूछा कि तू क्या चाहती है? लड़की ने उत्तर दिया कि तुमसे विवाह करना चाहती हूँ। कारण कि तुम सबसे अधिक बलवान हो। उसने कहा, कि देखो यदि थोड़ा सा बादल का खण्ड भी मेरे सामने आ जाये तो मेरे प्रकाश और तेज सबको छिपा लेता है। इसलिये बादल मुझसे अधिक बलवान और बड़ा है। तुम उससे जाकर विवाह की कामना प्रकट करो। लड़की बादल के पास गई और अपनी इच्छा प्रकट की। बादल ने कहा जब वायु चलती है तो मेरा पता भी नहीं लगता कि कहाँ से कहाँ उड़ाकर फैंक देती है। इससे वायु मुझ से अधिक बलवान् है, तुम उसके पास जाओ। लड़की वायु के पास गई, और अपनी इच्छा प्रकट की। वायु ने कहा देखो मैं चाहे कितना बल लगाऊँ मगर पहाड़ ऐसा शक्तिशाली और बलवान् हैं कि वह अपने स्थान से कभी नहीं हिलता। इसलिये पहाड़ मुझसे अधिक बलवान् है। तुम उससे विवाह करो। वह लड़की पर्वत के पास गई और अपना विचार प्रगट किया। पहाड़ ने कहा कि मैं चूहों से अधिक तंग आया हूँ, चूहे मेरे हृदय में छेद कर करके रहते हैं, न तो मुझको उनसे भागने की शक्ति है और न उनको निकालने की।

न जाये रफ़्तन न रुये मादन।

चूहे मुझसे अधिक बलवान् और शक्ति शाली हैं, तुम उनसे विवाह करो। वह लड़की एक चूहे के पास गई और विवाह का विचार प्रगट किया।

चूहे ने कहा, कि विवाह करने की इच्छा तो मेरी भी है, परन्तु चूहे का विवाह चूहे से ही होता है, मनुष्य से नहीं। वह लड़की चूहे को संग लेकर महात्मा के पास गई और विनय किया कि महाराज यदि मैं चुहिया हो जाऊँ तो इस चूहे संग विवाह हो सकता है। महात्मा ने प्रार्थना की और वह लड़की चुहिया बन गई।

(काना अलय गजउन) तात्पर्य हर एक वस्तु अपनी वास्तविकता की ओर प्रवृत होती है। अन्त में अपनी जात में अर्थात् अपने आपमें स्थित होती है।

६२—एक रोज़ इर्शाद हुआ, कि बाबा नानक साहिब के पास कोई कड़ाह प्रशाद लेकर उपस्थित हुआ। बाबा साहिब ने मर्दाना को आज्ञा दी कि इसको बांट दो। मर्दाना ने पूछा कि पहले किसको दूँ बाबा साहिब ने फ़रमाया कि जो तुम्हें सबसे अधिक प्रिय हो उसको दो। मर्दाना ने पहले हलवा उठा कर स्वयं खाना आरम्भ किया और विनय किया कि महाराज सबसे अधिक प्रिय तो मुझे अपना आप ही है।

६३—एक रोज़ इर्शाद हुआ, कि एक मनुष्य के दिल में विचार उत्पन्न हुआ कि ईश्वर ने संसार में पाप को क्यों उत्पन्न किया, वह सर्व शक्ति मान है। उसने ऐसे उपद्रवी (शैतान) को क्यों नहीं रोका। यदि वह चाहता तो ऐसे उपद्रवी को नष्ट कर डालता। ऐसे विचारों में डूबा, उलझा हुआ बाहर निकल गया और नदी के तट पर पहुँच कर क्या देखता है कि एक लड़का नदी के तट पर बैठा हुआ हाथ में पानी भर २ कर नदी के किनारे एक छिद्र में डाल रहा था। उस मनुष्य ने लड़के से पूछा कि यह तू क्या कर रहा है। उसने उत्तर दिया कि मैं इसी नदी को इस छिद्र में भरूँगा। वह मनुष्य बोला कि मूर्ख इस छोटे से छिद्र में इस नदी का पानी किस प्रकार समा सकता है। लड़के ने विनय किया कि वाह साहिब यदि नदी का पानी छिद्र में नहीं समा सकता तो फिर ईश्वरीय रहस्य तुम्हारे इस छोटे से सिर में कैसे समायेगा। जिस प्रकार तुम शैतान अर्थात् उपद्रवी आदि के सम्बन्ध में विचार कर रहे हो, उसी प्रकार मैं नदी को छिद्र में भर रहा हूँ। यह उत्तर पाकर वह मनुष्य अति लज्जित हुआ।

९४—एक रोज़ इर्शाद हुआ, कि उत्पन्न करने वाला और उत्पत्ति सब एक है। जैसे जब तक दवात में रोशनाई है तब तक स्याही कहलाती है। वही जब कागज़ पर लिखने में आई तो नाना प्रकार के लेखों में प्रगट हुई, परन्तु इसको अब स्याही कोई नहीं कहता, इसका नाम लेख होगया। वास्तव में वह लेख स्याही ही है।

९५—एक रोज़ इर्शाद हुआ कि जब श्रीरामचन्द्रजी महाराज लंका फ़तह करके अयोध्याजी में आये और राज तिलक हुआ तो विभीषण ने एक अनमोल मणिमाला श्रीरामचन्द्रजी की भेंट की। उन्होंने बड़ी प्रसन्नता से स्वीकार की, परन्तु विचारने लगे कि इस भेंट को स्वयं रख लेना तो उचित नहीं, किसी और प्यारे को देना चाहिये और श्री सीताजी के गले में पहना दी। श्री सीताजी ने सोचा कि हनुमान जी ने बड़ी सेवा की, उनको इस अवसर पर श्रीरामचन्द्र जी ने कुछ पुरुस्कार नहीं दिया, इसलिये वह माला हनुमान ज़ी को पहना दी। हनुमान जी ने प्रथम तो उसको शीश पर धारण किया फिर बड़े ध्यान से उसे उल्ट पलट कर देखा। फिर जिह्वा से लगाकर चखा, फिर नाक से लगाकर सूंघा, फिर कान से लगाकर सुना, फिर शरीर से स्पर्श किया। इसके पश्चात् एक मनके को तोड़ कर ध्यान से देखा और फैंक दिया। फिर दूसरे दाने को तोड़ कर फैंक दिया और इसी प्रकार मनके तोड़ तोड़ कर फैंकने लगे। इसकी इस चेष्टा को देखकर सब आश्चर्य में होगये और मन में कहने लगे कि श्री सीताजी ने अच्छे कदरदान को वस्तु दी, अन्त में लोगों से न रहा गया। किसी ने पूछा कि हनुमान जी यह क्या कर रहे हो। उन्होंने उत्तर दिया कि मैंने पहले इसे ध्यान से देखा था कि सम्भव है इसमें राम नाम लिखा हो, परन्तु जब कहीं नज़र न आया तो फिर जैसा बन्दर का स्वभाव होता है मैंने इसका स्वाद चखा। जब जिह्वा को भी रस न आया तो सूंघा कि सम्भव है सुगन्धित ही हो, परन्तु जब सुगन्ध भी न आई तो कान से लगाया कि सम्भव है कुछ राग ही सुनाई दे। जब वह भी सुनाई न दिया तो शरीर से स्पर्श किया कि सम्भव है कुछ शीत उष्ण ही हो, शीत ऋतु या ग्रीष्म ऋतु में काम आये, परन्तु वह भी सिद्ध न हो सका तो विवश होकर तोड़ा कि बाहिर नहीं तो सम्भव है भीतर ही राम नाम लिखा होगा।

जब भीतर भी न पाया तो व्यर्थ समझ कर फेंक दिया। इस पर लोगों ने तर्क उठाया कि क्या कोई ऐसी वस्तु आपके पास नहीं है जिसमें राम नाम न लिखा हो। तब हनुमान जी ने गदा और वस्त्रादि जो वस्तुयें उनके पास थीं दिखाईं, सब पर राम राम अंकित था। यहाँ तक कि उन्होंने अपने शरीर की खाल तक का भी कुछ भाग खोलकर दिखाया सब जगह राम राम अंकित था। भक्तों ने उनकी भक्ति की सराहना की परन्तु ज्ञानियों ने तर्क उठाया कि बन्दरों को समझ बूझ नहीं होती। जिस वस्तु को देखते हैं उस पर आसक्त और लट्टू हो जाते हैं, परन्तु उनकी वास्तविकता से उनका परिचय नहीं होता। इसलिये श्रीरामचन्द्र जी की भक्ति इन में अवश्य है, परन्तु उनके वास्तविक स्वरूप का इनको ज्ञान नहीं। इसके पश्चात् श्रीरामचन्द्र जी ने हनुमान जी से पूछा कि आप हमको क्या समझते हो। क्या राजा समझ कर प्रेम करते हैं, या मित्र समझ कर मित्रता को निभाते हैं। हनुमान जी ने विनय किया।

देह दृष्टया तू दासोऽहं, जीव बुद्धयात्वदंशकः।
वस्तु तस्तु तदेवाहमिति मे निश्चिता मतिः॥

अर्थात् (१) देह दृष्टि कर के तो मैं आपका दास हूँ, क्योंकि यह शरीर आपने दिया है और आप इसका पालन पोषण करते हैं और इसका नाश भी आपकी इच्छा के अधीन है, इसलिये आप इसके स्वामी हैं। और इस पर दृष्टि रखने से मेरा दास का पद है। जिस प्रकार स्वामी की टहल सेवा सेवक का धर्म है उसी प्रकार शारीरिक धर्मों का पालन करता हूँ। यदि यह कहा जाय कि काम व सेवा का भाव पूरा होगया तो फिर यह करते रहना क्या आवश्यक है तो प्रार्थना है कि एक मनुष्य चिन्तामणि की खोज में छलनी लेकर मार्ग में धूल छाना करता था। धूल छानते छानते अचानक या कर्मों के फल से या ईश्वर की कृपा से चाहे कुछ समझो चिन्तामणि प्राप्त हो गई, और वह बड़ा धनवान बन गया, परन्तु उसने अपनी आदत को न छोड़ा और अपने नित्य कार्य को आरम्भ ही रहने दिया। उसी प्रकार मार्ग में खाक छानता रहता था, उससे पूछा गया कि भाई अब किस वस्तु के ढूढ़ने के लिये धूल छानते हो उसने उत्तर दिया कि स्वार्थ या प्रयोजन तो कुछ नहीं, परन्तु शरीर का स्वभाव ऐसा हो गया है, या ऐसा जानो कि धन पात्र होने

का ख़याल और कुछ पाने के भाव को दिल से मिटाने के लिये कार्य चल रहा है ताकि याद रहे कि जो कुछ हुआ है इसी के द्वारा हुआ है। या ऐसे समझो कि दूसरों को उपदेश करने का भाव है। इसलिये हे दीनानाथ, श्री रामचन्द्र जी मैं भी शरीर का स्वाभाविक कर्म करता हूँ। (२) जीव के सम्बन्ध से आपका अंश हूँ और अंश अंशी से अलग नहीं होता, परन्तु उसी का रूप होता है जैसे सूरज की किरणें सूरज का रूप हैं। (३) ब्रह्म बुद्धि से आपका रूप हूँ जैसे सागर में बुलबुले होते हैं बुलबुले आकार के विचार से जल से अलग भासते हैं परन्तु वास्तव में सागर ही का रूप हैं कर्म के झकोलों से अलग आकार बन जाते हैं यह ब्रह्म का स्वभाव या कर्म की गति है। (४) मेरा यह निश्चय दृढ़ है डावांडोल नहीं के आज कुछ हो और कल कुछ या सुख में कुछ और दुःख में कुछ और बल्के यह निश्चय बुद्धि है जिसे हक्कुल यक़ीन कहते हैं।

६६—एक रोज़ इर्शाद हुआ, कि किसी बड़े रेगिस्तान से एक पथिक जा रहा था। जब मध्याह्न काल हुआ तो प्यास के ज़ोर से धूप और रेत की गर्मी से बेसुध होकर और थक कर रेत पर गिर पड़ा। जल की खोज में आँखें फाड़ २ कर देखने लगा तो क्या देखता है कि चारों ओर से उमड़ता हुआ दरिया उसकी ओर आ रहा है। यह देखकर अति व्याकुल हुआ और सोचने लगा कि अब किधर जाऊँ और क्या करूँ, चारों ओर से पानी आ रहा है। अब डूब कर मर जाऊँगा। मृत्यु सन्मुख देख कर हाहाकार करने लगा और कहने लगा कि हे ईश्वर तू अनादि है और तेरी माया भी अनादि है। हम बिचारे अनेक जीव इस माया के भ्रम में फंसे हुए दुख पाते हैं। इस समय तेरे बिना मेरा कोई रक्षक नहीं है। उसका हा हाकर सुनकर एक और पथिक उस ओर आ निकला और उस की दशा देख कर कहने लगा कि तू ईश्वर को कर्त्ता मानता है तो कर्म स्वतन्त्र हुआ। कर्म से ईश्वर होता है, कर्म से जगत् और जीव होता है, जो कर्ता है सो होता है। बिना पुरुषार्थ कोई वस्तु सिद्ध नहीं होती। यदि तुम अपनी जान बचाना चाहते हो तो कुछ पुरुषार्थ या कर्म करो जिससे तुम्हारी जान बचे। ईश्वर तुमको गोद में उठा कर थोड़ा ही ले जायेंगे। उनकी परस्पर यह बात हो ही रही थी कि तीसरा

बटोई आ उपस्थित हुआ और कहने लगा कि ईश्वर और कर्म दोनों काल के आधीन हैं। जब काल चक्र चलता है तो देश के अधिष्ठान में वस्तु के भाव होने पर ईश्वर, जीव और जगत और कर्त्ता, कर्म, कार्य प्रतीत होते हैं। जो काल चक्र न हो तो उनका अधिष्ठान कहाँ बन सकता है और कर्म से फल की प्राप्ति समय की अनुकूलता के बिना नहीं हो सकती है, इसलिये तुम समय की प्रतीक्षा करो। जो कुछ होना है अवश्य होकर रहेगा, व्यर्थ चिन्ता से क्या लाभ है।

दोहा—तुलसी मन मैदान में तान पिछौरा सोय।
अन होनी होनी नहीं, होनी होय सो होय।।

इतने में चौथा बटोई आन पहुँचा। उनकी वर्तालाप सुनकर कहने लगा कि जब चारों ओर पानी ही पानी दिखाई देता है तो इससे बचकर तुम किधर ओर कहाँ जाओगे। जब तक भिन्नता का भाव है उस समय तक कोई यत्न सफल नहीं हो सकता इससे मिलकर ही बच सकते हो। जैसे तैरने वाला पानी से मिल कर पानी हो जाता है। देखो इस सम्पूर्ण संसार की उत्पत्ति और स्थिति मिलाप से ही है। जिस काल में अनुभव का ज्ञान से मेल होता है तब सारा जगत लय हो जाता है। इसलिये योग अर्थात् मिलाप के बिना जो कुछ है सब व्यर्थ है। उसकी युक्ति भी मैं तुम्हें बताऊँ। आँख, कान, नाक, और मूँह आदि बन्द करके चाहे जितने जलमें कूद पड़ों,फिर ज़ल तुमको नहीं डुबो सकेगा। किन्तु जल की गम्भीरता और उसकी वास्तविकता का भी तुमको पता लग जावेगा। उसी समय पाँचवा बटोई आ पहुँचा, उनकी बातें सुनकर ठहठहा लगा कर हंसा और बोला कि जब तक मनुष्य का मन स्थिर नहीं होता उस समय तक कोइ युक्ति उसकी समझ में नहीं आती, और न कोई उससे यत्न बन पड़ता है। इसलिये पहिले चित्त को विचार से स्थिर करना चाहिये, ध्यान दो तो पता चलेगा कि जिस पानी के भय से तुम व्याकुल हो वह वास्तव में पानी नहीं है किन्तु मृगतृष्णा है। इस मिथ्या और नाम मात्र भ्रमात्मक वस्तु से क्यों भय खाते हो, और बचने के लिये युक्तियाँ सोचते हो इस बात को सुन कर सब आश्चर्य के समुद्र में डुबकी खा गये, और सोचने लगे कि यह मिथ्या है तो सच हो कर क्यों दिखाई देता

है। रेत पानी ही दिखाई देती है। इतने में कोई एक छटा बटोई भी उस ओर आ निकला पांचों मनुष्यों को एकत्र देखकर वहीं आ गया और उनकी दशा देखकर कहने लगा कि तुम्हारा भ्रम अभी दूर नहीं हुआ इसका कारण यह है कि काल, कर्म, क्रिया और विचार आदिक सब बुद्धि से होता है, और बुद्धि अन्तःकरण से है जो स्वयं जड़ पदार्थ है। उसकी सत्ता चेतन प्रकाश से होती है सो तुम उस चेतन प्रकाश को क्यों नही देखते। जिससे सब भ्रम शान्त हो जायें। न तो यहां पानी है न रेत, पानी होकर दिखाई देती है। किञ्चित ऊपर दृष्टि उठाकर देखो कि सूर्य की किरणें रेत पर पड़ती है और उनका प्रकाश हो पानी होकर दिखाई देता है। यदि इस भ्रम को मिटाना चाहते हो तो थोड़ी प्रतीक्षा करो, जब सूर्य अपने आप में लीन होगें तो उस समय इसका भेद खुल जायेगा। सूर्य प्रकाश बिना और कुछ नहीं है। इतने में एक अवधूत कहीं से आ पहुँचे और उनकी वार्तालाप सुन कर कहने लगे कि जब तक आंख खुली है उस समय तक सब धन्धा है, जरा आंखें बन्द करलो तो सब अभी लोप हुआ जाता है।

ईश्वर जीव कर्म काल योग विचार सूर्य और प्रकाश समस्त वस्तुयें तुम्हारे अन्दर से उत्पन्न हुई है, इन सब वस्तुओं के नाम तुमने ही रखें हैं। इन सब के मानने और जानने वाले तुम हो, और सब की तुम्हीं से स्थिति है। यह सब भ्रम तुम्हारे अन्दर से उत्पन्न हुआ है। फिर व्यर्थ पानी का भय खाते हो और सूर्य को देखने की कोशिश करते हो और अपनी ओर दृष्टि कर के क्यों नहीं देखते जो सब भ्रम दूर हो जायें और वास्तविकता का पता लग जावे। क्या अद्भुत पाखण्ड है कि जिससे समस्त सृष्टि उत्पन्न हो और वह अपने से ही अनजान रहे। सम्पूर्ण कर्म शरीर से माने जाते हैं और समस्त इन्द्रियों को भोग देते हैं। जिसकी प्रसन्नता से सब प्रसन्न, और जिसके दुख से सब दुखी हैं फिर वही कहता है कि मैं जीव हूँ। है तो स्वयं और कहता है तत्तपद-त्वंपद और असी पद अर्थात् तत्त्वमसि। आनन्द तो यह है कि आप ही पूर्ण काम और आप ही इच्छुक। आप ही नरक बनाता है और आप ही भय खाता है, पानी से जो तरंगें और बुलबुले उत्पन्न होते हैं वह

वास्तविक पानी है, उससे अतिरिक्त और क्या हो सकता है। बून्द और दरिया की भावना को छोड़ कर पानी पर दृष्टि रखनी चाहिये।

(९७) एक रोज़ इर्शाद हुआ कि अवधूत के लक्षण और इसमें हिन्दी के जो चार अक्षर (अवधूत) हैं उनका तात्पर्य यह है :—

(१) आशा पाश विनिर्मुक्त, आदि मध्यान्त निर्मलः।
आनन्दे वर्तते नित्यमकार तस्य लक्षणम् ॥

(२) वासना वर्जिता येन, वक्तव्यं च निरामयम्।
वर्ततमानेषु वर्तते, वकारं तस्य लक्षणम् ॥

(३) धूल धूसर गात्राणि, धूत चित्तोनिरामयः।
धारणा ध्याननिर्मुक्तो, धूकारस्तस्य लक्षणम् ॥

(४) तत्व चिन्ता धृता येन, चिन्ता चेष्टा विवर्जितः।
तमोऽहङ्कार निर्मुक्तस्तकारस्सस्य लक्षणम् ॥

* तीसरा भाग "वेदान्त" पूर्ण हुआ *

प्रार्थना

दिलो जां दीनो ईमां जो लेना हो गुरु ले लो।
करूँगा उज़र देने में नही चाहे कसम ले लो॥
मरण विछड़त ही पिया उलट गयो संसार।
चंदा चंदन चांदनी, भये जरावन हार॥
कूक करूँ तो जग हसे, नहीं तो लागे घाव।
ऐसे दुहरे दर्द को, विधना कहा उपाय॥
वही वृन्दावन कुंजबन, वही सखा वही ठोर।
एक ऊधव बृजराज बिन, भये और के ओर।
तुम चाहो या मत चाहो, राम याद गुरु राय।
मैं चाहत हूँ आपको, प्रेम प्रीत के भाय॥
हम यह दो बोल के हारे हैं—तुम हमारे हो हम तुम्हारे हैं।
तन मन धन अर्पण कियो, शरण गही मैं नाथ।
मन भावे सोई करो, लाज तुम्हारे हाथ॥
कोई काहू में मगन, कोई काहू में मगन।
मैं तो वाही ही में मगन, जामे लागी है लगन॥
बाहरी ग़फलत नहीं है, आज तक इतनी ख़बर।
कौन है मतलूब मैं किसके तलबगारों में हूँ॥

साहिब इतना माँग हूँ के रूखा सूखा देय।
चुपड़ी माग़त मैं डरूँ, कहीं रूखीं न हर लेय।।
रूखी सूखो खाय के, ठण्डा पानी पी।
देख़ पराई चुपड़ो, मत ललचावे जी।।
न मैं किया न कर सकूँ, साहिब करता मोर।
करन करावन आप हैं, पल्टू पल्टू शोर।।
मीन काट जल धोईये, खाये अधिक़ प्यास।
तुलसो प्रीत सराहिये, मुये मीत की आस।।
प्रीत तो कीजे एक से, जासे मन पतयाय।
ठौर ठौर की प्रोति में, मत कलंक लगजाय।।

